पद्मावत सौरभ

दिनेश कुमार

इण्डिया बुक कम्पनी
इलाहाबाद

डा० मोहन अवस्थी

(हिन्दी विभाग)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

को

सादर ———

मीसागर वार्ष्णेय अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय की भूमिका के साथ—

पद्मावत—सौरभ

लेखक

दिनेश कुमार एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी)

प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
चौधरी महादेव प्रसाद महाविद्यालय
(इलाहाबाद विश्वविद्यालय)
इलाहाबाद

प्रकाशक

एशिया बुक कम्पनी

९, युनिवर्सिटी रोड
इलाहाबाद—१

विषय-क्रमणिका

———

प्रथम संस्करण ● १९७१

प्रकाशक ● एशिया बुक कम्पनी
९, युनिवर्सिटी रोड
इलाहाबाद

मुद्रक ● चन्द्रिका प्रसाद श्रीवास्तव
आनन्द प्रिंटिंग प्रेस
७३, बाई का बाग
इलाहाबाद

विषय-क्रमणिका

———

दो शब्द

श्री दिनेश कुमार द्वारा तैयार किया गया पद्मावत षट्ऋतु वर्णन खंड का सटिप्पण संस्करण प्रकाशन के पूर्व देखने का मुझे अवसर मिला। सुयोग्य तथा उत्साही अध्यापक ने इसे पूर्ण परिश्रम और सावधानी के साथ तैयार किया है। बी० ए० के विद्यार्थियों को पाठ्य-क्रम में निर्धारित इस खंड के पाठान्तर, व्याख्या तथा विस्तृत टिप्पणियाँ उपलब्ध हो जाने से विशेष सहायता मिलेगी।

व्यक्तिगत संपर्क के कारण मैं जानता हूँ कि श्री दिनेश कुमार को हिन्दी साहित्य के प्रति वास्तविक अभिरुचि है और उनका इस विषय का अध्ययन व्यापक है। मुझे आशा है कि भविष्य में वे अपनी योग्यता का उपयोग किसी मौलिक कार्य को सम्पन्न करने में भी करेंगे।

धीरेन्द्र वर्मा
भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी-विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय एवं
भूतपूर्व वाइस-चान्सलर,
जबलपुर विश्वविद्यालय

"श्री चन्द्रालोक"
इलाहाबाद, २३ जुलाई १९७१ ई०

दो शब्द

श्री दिनेश कुमार द्वारा तैयार किया गया पद्मावत षट्ऋतु वर्णन खंड का सटिप्पण संस्करण प्रकाशन के पूर्व देखने का मुझे अवसर मिला। सुयोग्य तथा उत्साही अध्यापक ने इसे पूर्ण परिश्रम और सावधानी के साथ तैयार किया है। बी० ए० के विद्यार्थियों को पाठ्य-क्रम में निर्धारित इस खंड के पाठान्तर, व्याख्या तथा विस्तृत टिप्पणियाँ उपलब्ध हो जाने से विशेष सहायता मिलेगी।

व्यक्तिगत संपर्क के कारण मैं जानता हूँ कि श्री दिनेश कुमार को हिन्दी साहित्य के प्रति वास्तविक अभिरुचि है और उनका इस विषय का अध्ययन व्यापक है। मुझे आशा है कि भविष्य में वे अपनी योग्यता का उपयोग किसी मौलिक कार्य को सम्पन्न करने में भी करेंगे।

धीरेन्द्र वर्मा
भूतपूर्व अध्यक्ष हिन्दी-विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय एवं
भूतपूर्व वाइस-चान्सलर,
जबलपुर विश्वविद्यालय

"श्री चन्द्रालोक"
इलाहाबाद, २३ जुलाई १९७१ ई०

भूमिका

हिन्दी साहित्य के इतिहास में मलिक मुहम्मद जायसी का स्थान न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से, वरन् साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सूफ़ी मत का जितना गम्भीर और सुन्दर निरूपण, साहित्यिक सौष्ठव के साथ, जायसी के प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ 'पद्मावत' में हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भारत वर्ष में सूफ़ी मत का सूत्रपात बारहवीं शताब्दी में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आविर्भाव काल से माना जाता है। सूफ़ी सम्प्रदाय के अनुयायी अपने सरल साधारण जीवन और उच्च आध्यात्मिक विचारों के लिए प्रसिद्ध थे। सूफ़ी कवियों ने अपने आध्यात्मिक विचारों को जन-समाज में प्रस्तुत करने के लिए लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लिया। अपनी इसी विशिष्टता के कारण जायसी कृत 'पद्मावत' का हिन्दी प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा में अद्वितीय स्थान है। कवि ने लोक में प्रचलित प्रेम-कथा को अपने प्रबन्ध-काव्य का प्रतिपाद्य चुना जिसमें अध्यात्म तत्व प्रतीक के रूप में सर्वत्र आद्यन्त परिलक्षित होता है। 'पद्मावत' में प्रेम का स्वरूप भी सामान्य न हो कर विशिष्ट हो उठा है। क्योंकि सूफ़ी मत के अनुसार जीवात्मा प्रीति की रीति में बँध कर ही विरह-व्यथा से पीड़ित होती है और यह व्यथा समस्त ब्रह्माण्ड पर अपना प्रभाव छोड़ती है। इसके लिए साधक को अन्तर्जगत की साधना द्वारा आत्म-दर्शन की आवश्यकता पड़ती है।

सिद्धान्ततः ईश्वर एक और नित्यस्वरूप है, जिसे सूफ़ियों की शब्दावली में हक़ कहते हैं। ईश्वर और आत्मा का अद्वैत सम्बन्ध होता है। आत्मा या बन्दा इश्क़ के सूत्र से हक़ तक पहुँचता है। साधना की चरम अवस्था मारिफ़त में पूर्ण सम्मिलन के उपरान्त बन्दा 'फ़ना' हो कर 'बक़ा' के लिए प्रस्तुत होता

है, किन्तु शैतान बीच में ही आ उपस्थित होता है और किसी न किसी प्रकार साधक को साधना के मार्ग से विचलित करने का अपना पूरा प्रयास करता है। शैतान (माया) के प्रपञ्च से बचने के लिए पीर या गुरु की आवश्यकता होती है। इन्हीं व्यापक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में जायसी ने अपने काव्य-ग्रन्थ 'पद्मावत' के कथानक का सुन्दर विकास किया है। इसकी कथा चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती की लोक-प्रसिद्ध प्रेम-कथा है। हीरामन सूए द्वारा संसार की अनिंद्य सुन्दरी पद्मावती का सौन्दर्य-वर्णन, उस अप्रतिम सौन्दर्य के प्रति रत्नसेन की आसक्ति का भाव, प्रतिक्रिया में रानी नागमती का सुए के प्रति मन ही मन ईर्ष्यालु होना, सुए के अभाव में राजा रत्नसेन की व्याकुलता और आक्रोष, सुए की उपस्थिति और उसके नेतृत्व में जोगी का वेश धारण कर रत्नसेन का चित्तौड़ से सिंहलद्वीप के लिए प्रस्थान, मार्ग की कठिनाइयाँ और सात समुद्रों का व्यवधान पार करने के अनन्तर लक्ष्य तक पहुँचना, रत्नसेन और पद्मावती का विवाह, राघवचेतन को लेकर राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन में संघर्ष, निराश अलाउद्दीन द्वारा छल से राजा रत्नसेन को बन्दी कर लेना, गोरा बादल की युक्ति, अलाउद्दीन की विशाल सशस्त्र सेना से युद्ध और गोरा की मृत्यु, बन्दीगृह से रत्नसेन की मुक्ति, रत्नसेन और देवपाल का युद्ध और दोनों की मृत्यु, रत्नसेन के मरणोपरान्त नागमती तथा पद्मावती दोनों ही रानियों का मृत पति के शव के साथ सती होना आदि सभी प्रसंगों का जायसी ने अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है।

'पद्मावत' का सम्पूर्ण कथानक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक तो पूर्वार्द्ध, जिसके अन्तर्गत विवाह तक की कथा का समावेश है और जो कवि की अपनी कल्पना मात्र है; और दूसरा उत्तरार्द्ध, जिसके अन्तर्गत राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन के युद्ध, छल और गोरा-बादल के पराक्रम आदि की कथा का निरूपण हुआ है और जिसका आधार इतिहास-सम्मत है।

'पद्मावत' के पात्र सद् और असद्, इन दो कोटियों में विभक्त किए जा सकते हैं। रत्नसेन प्रेम का आदर्श स्वरूप है, नागमती और पद्मावती नारीत्व

का सहज और स्वाभाविक किन्तु आदर्श रूप हैं। गोरा और बादल आदर्श वीर हैं, जब कि राघवचेतन, अलाउद्दीन और देवपाल आदि असद् कोटि के तामसी पात्र हैं। अन्त में पद्मावती के सती हो जाने के उपरान्त अलाउद्दीन की निराशा के माध्यम से कवि ने सद् की विजय और असद् की पराजय की जो व्यञ्जना प्रस्तुत की है, वह अनुपम है। रत्नसेन की मृत्यु, गोरा और बादल की वीरगति तथा नागमती और पद्मावती दोनों ही नारी पात्रों के सती हो जाने से पद्मावत की कथा दुःखान्त कही जा सकती है। किन्तु सूफ़ी मत के अनुसार देहाभिमान से परे जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैत-स्थिति ही वास्तविक सुख का कारण होती है, साथ ही मरणोपरान्त प्रियतम से वास्तविक मिलन भी होता है। इस दृष्टि से भी 'पद्मावव' का कथानक अत्यन्त सुगठित और सफल माना जायगा।

इसके अतिरिक्त 'पद्मावत' की कथा के लोक-पक्ष और अध्यात्म-पक्ष दोनों ही अत्यन्त सबल हैं। लोक-पक्ष की दृष्टि से वह एक सुन्दर प्रेम-कथा है जिसके संग्रन्थन में लोक तत्वों का पर्याप्त समावेश है। अध्यात्म-पक्ष की दृष्टि से राजा रत्नसेन साधक या भक्त है, रानी पद्मावती साध्य या परम तत्व है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह अपने राज-पाट,भोग-विलास से सन्यस्त हो कष्टों को झेलता हुआ निकल पड़ता है। सुआ हीरामन सद्गुरु या पीर है जो मार्ग प्रदर्शन करता है। अलाउद्दीन शैतान या माया है और राघवचेतन उसका सहायक। कथा में अनुभूति का प्राधान्य है। अध्यात्म-पक्ष के कारण कथा संगठन में कहीं-कहीं शिथिलता और अस्वाभाविकता भी आ गई है, किन्तु आदि से अन्त तक कहीं भी कुतूहल और रसात्मकता में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पायी है। रत्नसेन और पद्मावती की कथा ही 'पद्मावत' की मूल या प्रधान कथा है। किन्तु अन्य अवान्तर या प्रासंगिक कथाओं के साथ भी कवि ने पर्याप्त न्याय किया है। साथ ही इसकी कथा घटना-प्रधान है, न कि चरित्र-प्रधान।

मसनवी शैली के आधार पर रचित 'पद्मावत' की भाषा साहित्यिक अवधी न हो कर बोलचाल की अवधी है। अपभ्रंश काल से चले आ रहे दोहा-चौपाई छन्दों के माध्यम से कवि जायसी ने सूफ़ी सिद्धान्तों को भारतीय कथा

है, किन्तु शैतान बीच में ही आ उपस्थित होता है और किसी न किसी प्रकार साधक को साधना के मार्ग से विचलित करने का अपना पूरा प्रयास करता है। शैतान (माया) के प्रपञ्च से बचने के लिए पीर या गुरु की आवश्यकता होती है। इन्हीं व्यापक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में जायसी ने अपने काव्य-ग्रन्थ 'पद्मावत' के कथानक का सुन्दर विकास किया है। इसकी कथा चित्तौड़ के राजा रत्नसेन और सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की पुत्री पद्मावती की लोक-प्रसिद्ध प्रेम-कथा है। हीरामन सूए द्वारा संसार की अनिंद्य सुन्दरी पद्मावती का सौन्दर्य-वर्णन, उस अप्रतिम सौन्दर्य के प्रति रत्नसेन की आसक्ति का भाव, प्रतिक्रिया में रानी नागमती का सुए के प्रति मन ही मन ईर्ष्यालु होना, सुए के अभाव में राजा रत्नसेन की व्याकुलता और आक्रोष, सुए की उपस्थिति और उसके नेतृत्व में जोगी का वेश धारण कर रत्नसेन का चित्तौड़ से सिंहलद्वीप के लिए प्रस्थान, मार्ग की कठिनाइयाँ और सात समुद्रों का व्यवधान पार करने के अनन्तर लक्ष्य तक पहुँचना, रत्नसेन और पद्मावती का विवाह, राघवचेतन को लेकर राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन में संघर्ष, निराश अलाउद्दीन द्वारा छल से राजा रत्नसेन को बन्दी कर लेना, गोरा बादल की युक्ति, अलाउद्दीन की विशाल सशस्त्र सेना से युद्ध और गोरा की मृत्यु, बन्दीगृह से रत्नसेन की मुक्ति, रत्नसेन और देवपाल का युद्ध और दोनों की मृत्यु, रत्नसेन के मरणोपरान्त नागमती तथा पद्मावती दोनों ही रानियों का मृत पति के शव के साथ सती होना आदि सभी प्रसंगों का जायसी ने अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया है।

'पद्मावत' का सम्पूर्ण कथानक दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—एक तो पूर्वार्द्ध, जिसके अन्तर्गत विवाह तक की कथा का समावेश है और जो कवि की अपनी कल्पना मात्र है; और दूसरा उत्तरार्द्ध, जिसके अन्तर्गत राजा रत्नसेन और अलाउद्दीन के युद्ध, छल और गोरा-बादल के पराक्रम आदि की कथा का निरूपण हुआ है और जिसका आधार इतिहास-सम्मत है।

'पद्मावत' के पात्र सद् और असद्, इन दो कोटियों में विभक्त किए जा सकते हैं। रत्नसेन प्रेम का आदर्श स्वरूप है, नागमती और पद्मावती नारीत्व

का सहज और स्वाभाविक किन्तु आदर्श रूप हैं। गोरा और बादल आदर्श वीर हैं, जब कि राघवचेतन, अलाउद्दीन और देवपाल आदि असद् कोटि के तामसी पात्र हैं। अन्त में पद्मावती के सती हो जाने के उपरान्त अलाउद्दीन की निराशा के माध्यम से कवि ने सद् की विजय और असद् की पराजय की जो व्यञ्जना प्रस्तुत की है, वह अनुपम है। रत्नसेन की मृत्यु, गोरा और बादल की वीरगति तथा नागमती और पद्मावती दोनों ही नारी पात्रों के सती हो जाने से पद्मावत की कथा दुःखान्त कही जा सकती है। किन्तु सूफ़ी मत के अनुसार देहाभिमान से परे जीवात्मा और परमात्मा की अद्वैत-स्थिति ही वास्तविक सुख का कारण होती है, साथ ही मरणोपरान्त प्रियतम से वास्तविक मिलन भी होता है। इस दृष्टि से भी 'पद्मावत' का कथानक अत्यन्त सुगठित और सफल माना जायगा।

इसके अतिरिक्त 'पद्मावत' की कथा के लोक-पक्ष और अध्यात्म-पक्ष दोनों ही अत्यन्त सबल हैं। लोक-पक्ष की दृष्टि से वह एक सुन्दर प्रेम-कथा है जिसके संग्रन्थन में लोक तत्वों का पर्याप्त समावेश है। अध्यात्म-पक्ष की दृष्टि से राजा रत्नसेन साधक या भक्त है, रानी पद्मावती साध्य या परम तत्व है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह अपने राज-पाट,भोग-विलास से सन्यस्त हो कष्टों को झेलता हुआ निकल पड़ता है। सुआ हीरामन सद्गुरु या पीर है जो मार्ग प्रदर्शन करता है। अलाउद्दीन शैतान या माया है और राघवचेतन उसका सहायक। कथा में अनुभूति का प्राधान्य है। अध्यात्म-पक्ष के कारण कथा संगठन में कहीं-कहीं शिथिलता और अस्वाभाविकता भी आ गई है, किन्तु आदि से अन्त तक कहीं भी कुतूहल और रसात्मकता में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पायी है। रत्नसेन और पद्मावती की कथा ही 'पद्मावत' की मूल या प्रधान कथा है। किन्तु अन्य अवान्तर या प्रासंगिक कथाओं के साथ भी कवि ने पर्याप्त न्याय किया है। साथ ही इसकी कथा घटना-प्रधान है, न कि चरित्र-प्रधान।

मसनवी शैली के आधार पर रचित 'पद्मावत' की भाषा साहित्यिक अवधी न हो कर बोलचाल की अवधी है। अपभ्रंश काल से चले आ रहे दोहा-चौपाई छन्दों के माध्यम से कवि जायसी ने सूफ़ी सिद्धान्तों को भारतीय कथा

में पिरोया और हिन्दू जनता का हृदय आकर्षित किया जो उनकी धार्मिक सहिष्णुता का स्पष्ट परिचायक है। 'पद्मावत' तक आते-आते हिन्दी प्रेम-काव्य-परम्परा पर्याप्त प्रौढ़ हो गई प्रतीत होती है। अभी तक की रचनाएँ केवल कल्पना पर आधारित थीं, किन्तु जायसी ने कल्पना के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश कर अपनी मौलिकता एवं विशिष्टता का परिचय, दिया है। कथा का खण्डों में विभाजन, कथा प्रारम्भ के पूर्व ईश्वर स्तुति, मुहम्मद आदि पैगम्बरों और तत्कालीन शासक शेरशाह की वन्दना, आत्म-परिचय छोटी-छोटी बातों का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन, विरह वर्णन में वीभत्सता आदि सभी में कवि ने फ़ारसी की मसनवी शैली को आधार बनाया है, किन्तु इसके साथ ही षट्ऋतु-वर्णन, बारहमासा, रस, अलंकार तथा उसके उपमानों आदि के लिए उसने विशुद्ध भारतीय काव्य परम्परा का अनुसरण किया है। इसी कारण 'पद्मावत' में भारतीय तथा इस्लामी दोनों ही संस्कृतियों तथा उनके उच्च आदर्शों का सुन्दर सामञ्जस्य हो सका है।

'पद्मावत' एक विशिष्ट काव्य एवं चिन्तन-धारा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। मैं श्री दिनेश कुमार की इस 'पद्मावत-सौरभ' शीर्षक पुस्तक का स्वागत करता हूँ। श्री दिनेश कुमार हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् हैं और आप में पुष्ट साहित्याभिरुचि है। आपने जायसी कृत 'पद्मावत' के 'षट्ऋतु वर्णन खण्ड' का जो आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह निस्संदेह आपकी आलोचनात्मक क्षमता का परिचायक है। आशा है हिन्दी साहित्य के पाठक आपकी इस पुस्तक का अध्ययन कर लाभान्वित होंगे।

लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

जुलाई २३, १६७१ ई०

कुछ अपनी ओर से

'पद्मावत-सौरभ' में मैंने डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित और हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद से सन् १९५१ ई० में प्रकाशित 'जायसी-ग्रंथावली' के मूल पाठ को स्वीकार किया है किन्तु उसी रूप में नहीं, अपितु डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के सुझावों को भी ध्यान में रखते हुए। डॉ० गुप्त ने अपने पुनर्सम्पादित संस्करण 'पद्मावत' में जिसका प्रकाशन भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद से नवम्बर सन् १९६३ ई० में हुआ, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनेक सुझाव स्वीकार भी नहीं किए तथापि जो स्वीकार किए हैं उन्हें ही मैंने ग्रहण किया है। नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी से प्रकाशित आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी ग्रंथावली' से उक्त ग्रंथावली का पाठ मिलान करने पर दो प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हुईं—एक तो पाठ-भेद तथा पंक्तियों के क्रम-भेद से सम्बद्ध और दूसरी उन अतिरिक्त छन्दों से सम्बद्ध जिन्हें डॉ० गुप्त ने प्रक्षिप्त एवं अप्रामाणिक मान कर पद्मावत के मूल-पाठ से अलग कर दिया था। इन दोनों ही समस्याओं का समाधान भी मैंने पाठान्तर निर्देश तथा अतिरिक्त छन्दों को सतर्कतापूर्वक स्थान दे कर किया है। 'पद्मावत-सौरभ' में ऐसे छन्दों की कुल संख्या तीन है, जिन्हें मैंने 'क' संकेत से चिह्नित कर २क, ३१क और ४९क का विशिष्ट क्रमाङ्क दिया है। छंद के पूर्व इसका स्पष्ट उल्लेख तो कर ही दिया है, साथ ही आचार्य शुक्ल की ग्रंथा-वली का उपयुक्त क्रम भी बना रहे इस कारण उन्हें परिशिष्ट आदि में न दे कर उन्हीं छन्दों के पूर्व रखा है जिनके पूर्व वे उपलब्ध होते हैं। इनकी व्याख्या और टिप्पणी देते हुए कथा-प्रवाह की सहज स्वाभाविकता की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है।

'पद्मावत-सौरभ' की व्याख्या और टिप्पणियों के संदर्भ में मैंने लीक का आश्रय छोड़ स्वतन्त्र मार्ग का अनुसरण किया है जिससे विद्वान भाष्यकारों से मेरा मतभेद होना स्वाभाविक हो उठा है। 'पद्मावत' का सर्वप्रथम प्रामाणिक भाष्य भाषाविद् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा सन् १९५५ ई० में साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका में ही डॉ० गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रंथावली' के पाठ और पंक्ति-क्रम की प्रामाणिकता को स्वीकार किया गया है, किन्तु छन्दों के क्रम तथा स्थल विशेष के पाठों के सम्बन्ध में डॉ० अग्रवाल ने स-तर्क अपने सुझाव दिए हैं। 'पदमावत' के प्रारम्भ में ही डॉ० अग्रवाल ने अपनी व्याख्या को 'संजीवनी व्याख्या' की संज्ञा दी है।

व्याख्या के संदर्भ में प्रस्तुत काव्य-संकलन 'पद्मावत-सौरभ' के छंद सं० २५ की नवीं पंक्ति का उत्तरार्द्ध दृष्टव्य है। 'नव कै आनि बसाउ' की व्याख्या करते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है—"तू आकर और उसे नया करके फिर से बसा" (पद्मावत पृष्ठ सं० ३०३; छंद सं० ३५६/९ की व्याख्या) और इसी के समानान्तर डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल की संजीवनी व्याख्या इस प्रकार है—"आकर नए सिरे से बसाओ" (पदमावत पृष्ठ सं० ३५६; छंद सं० ३५६/९ की व्याख्या)। दोनों ही विद्वान भाष्यकारों ने 'आनि' का अर्थ 'आकर' लिया है, जब कि 'आनि' का अर्थ 'लाकर' या 'ले' आकर होना चाहिए था। 'आकर' इस अर्थ के संदर्भ में जायसी ने सर्वत्र 'आइ' का प्रयोग किया है और 'लाकर' या 'ले आकर' इस अर्थ के संदर्भ में आनि का। उदाहरणार्थ 'पद्मावत-सौरभ' में—

आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ (छंद सं० २०/३);
आइ बुझाउ अँगारन्ह माँहाँ (छंद सं० २३/३);
जौं पिय सींचहु आइ (छंद सं० २३/९);
हौं भै भसम न आइ समेटा (छंद सं० ३०/४); और

कथा जो कहै आइ पिय केरी (छंद सं० ३०/५) आदि में जायसी ने 'आइ' का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या करते हुए उपर्युक्त दोनों ही विद्वानों ने

'आकर' ऐसा अर्थ लिया है (देखिए 'पदमावत' और 'पद्मावत' के छंद संख्या ३५१/३; ३५४/३; ३५४/६; ३६१/४ और ३६१/५ की व्याख्याएँ)।

पुनः 'आनि' का सीधा सम्बन्ध भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर भी 'आनीय' से सिद्ध होता है, न कि 'आगम्य' से जैसा कि 'नव के आनि बसाउ' की व्याख्या के संदर्भ में उपर्युक्त विद्वानों द्वारा लिया गया है। बोलचाल की अवधी में भी 'लाकर' या 'ले आकर' के लिए आनि, आनइ, आन आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। और भी, 'पद्मावत-सौरभ' के छंद सं० ५७/३ (लाई आनि माँझ कै बारी) में 'आनि' का प्रयोग हुआ है जिसकी व्याख्या करते हुए उपर्युक्त दोनों ही विद्वानों ने 'लाकर' ऐसा अर्थ भी लिया है। 'पद्मा-वत-सौरभ' छंद सं० ३१क/६ (आनि मिलाव एक बेर) में भी 'आनि' इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल की 'जायसी-ग्रंथावली' में उपलब्ध होता है। पुनः छंद सं० ५५/२ (पदमावति सौं कहा सो आनी) में प्रयुक्त 'आनी' का अर्थ उपर्युक्त विद्वानों द्वारा 'आकर' लिया गया है, जो मेरी दृष्टि से 'अन्य' होना चाहिए था—'आकर' ऐसा अर्थ तो व्यंग्य से लिया जा सकता है (देखिए टिप्पणी)।

'नव कै आनि बसाउ' में 'कै' का प्रयोग भी साभिप्राय हुआ है, जिसका अर्थ 'अथवा' होना चाहिए था। 'कै' अनिश्चयात्मक या विकल्प की व्यञ्जना के उद्देश्य से कवि द्वारा प्रयुक्त हुआ है, और 'नव' श्लिष्ट पद है, जिसका एक अर्थ 'नया' और दूसरा 'नव-विवाहिता' (नवोढ़ा) है। इस प्रकार उपर्युक्त वाक्यांश का अर्थ नायिका के संदर्भ में "(या तो स्वयं) आकर नया बसा दे अथवा उस नवोढ़ा (पद्मावती) को भी (अपने साथ) ले आकर बसा दे" और छप्पर के संदर्भ में "(या तो स्वयं) आकर नया बसा दे अथवा (उपयुक्त सामग्री आदि) ले आकर नए ढंग से बसा दे" इस प्रकार होगा। इस व्याख्या की प्रामाणिकता इससे भी सिद्ध हो जाती है कि आगे चल कर रत्नसेन पद्मा-वती को अपने साथ ले कर ही आता है। वस्तुतः विरहिणी नागमती के इस विलाप में कवि ने बड़ी सतर्कतापूर्वक आगे आने वाली घटना का भी संकेत

कर दिया है, और इसी उद्देश्य से उसने ऐसा विशिष्ट शब्द-प्रयोग भी किया है।

इसी प्रकार 'पद्मावत-सौरभ' के छंद सं० २९ के पाँचवीं पंक्ति की प्रथम अर्द्धाली (कहिसि जात हौं सिंहलदीपा) की व्याख्या भी दृष्टव्य है। डॉ० गुप्त के अनुसार "[उस कान्त ने] कहा था, 'मैं सिंहलद्वीप जा रहा हूँ" (देखिए 'पद्मावत' पृष्ठ सं० ३०८ पर छंद सं० ३६०/५ की व्याख्या) और डॉ० अग्रवाल के अनुसार "वह कह गया था कि मैं सिंहलद्वीप जा रहा हूँ" (देखिए 'पदमावत' पृष्ठ सं० ३६२ पर छंद सं० ३६०/५ की व्याख्या)। डॉ० अग्रवाल के भाष्य-ग्रन्थ में उपर्युक्त अर्द्धाली का पाठ इस प्रकार है—"कहिसि जाति हौं सिंघल दीपा"। सर्वप्रथम तो अवधी के क्रिया-पदों में पुल्लिंग और स्त्री-लिंग का कोई ऐसा स्पष्ट अन्तर नहीं होता और इस प्रकार शुद्ध पाठ 'कहेसि जात...' ही होना चाहिए था, तो भी व्याख्या के संदर्भ में प्रकरण को देखते हुए मेरा अपना मत तो यही है कि यह कथन विरहिणी नागमती का है, और 'हौं' से उत्तम पुरुष एक वचन कर्ता का अध्याहार होता है। इस प्रकार उपर्युक्त अर्द्धाली का अर्थ होना चाहिए —"(कुछ रुक कर पुनः) कहने लगी—'मैं (अब) सिंहल द्वीप की ओर जा रही हूँ।" प्रसंग भी यही है कि रो-रो कर नागमती ने बारह-मास व्यतीत किया और 'मानुस घर घर पूँछि कै, पूँछै निसरी पाँखि' (छंद सं० २६/९), उसने बनवास लिया (छंद सं० २७/१) और जब उसे निश्चय हो गया कि जहाँ उसका प्रियतम जा बसा था, वहाँ संभवतः 'ना कोकिल न पपीहरा केहि सुनि आवहि कंत' (छंद सं० २८/९) तो मात्र इसके कि वह स्वयं उस दिशा की ओर चल पड़ती, और कोई अन्य विकल्प भी तो उसके सामने नहीं था जिसका प्रमाण 'फिरि फिरि रोइ न कोई डोला' (छंद सं० २९/१) है। अर्द्धरात्रि में 'विहंगम' की सहानुभूतिमय जिज्ञासा के समाधान में वह यही बताना चाहती है कि वह कहाँ और क्यों जा रही है? और भी, राजा रत्नसेन के घर से निकलने की बात तो अगली पंक्ति में आ ही रही है; ऐसी स्थिति में 'कहिसि जात हौं सिंहलदीपा' की व्याख्या

विरहिणी नागमती के संदर्भ में ही समीचीन प्रतीत होती है, क्योंकि उससे कारण और कार्य के अन्विति की सम्बद्धता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'पद्मावत-सौरभ' के छंद सं० ३६/८-६ (मुहम्मद बाईं दिसि तजी, एक सरवन एक आँखि......) की व्याख्या के संदर्भ में भी मेरा मतभेद है, और उसके दो कारण है—एक तो कवि द्वारा 'मुहमद' शब्द का प्रयोग और दूसरा, मनोविज्ञान। जहाँ कहीं भी कवि को किसी सिद्धान्त या सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के निर्वचन की आवश्यकता हुई है, वहाँ सर्वत्र उसने 'मुहमद' या 'मोहम्मद' आदि इन शब्द-रूपों का प्रयोग किया है यथा—

'मुहमद सती सराहिए......' (छंद सं० २४/६),

'मुहमद यह मन अमर है' (छंद सं० ४४/८), और

'...लिखा मोहम्मद जोग' (छंद सं० ६७/८) आदि (देखिए 'पद्मावत' और 'पदमावत' छंद सं० ३५५।६, ४२२/८ और ४४५/८) और दूसरे विकलांग कभी भी अपनी हीनता के प्रति संकेत मात्र तो सहन नहीं कर सकता, स्वयं कहने की बात तो दूर रही। वस्तुतः यहाँ शब्द की लक्षणा-शक्ति का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है और प्रकरण भी वाम-पंथ की अपेक्षा दक्षिण-पंथ की श्रेष्ठता सिद्ध करता है। जायसी के संदर्भ में इसका अभिधापरक अर्थ आलोचकों एवं भाष्यकारों को ही अभीष्ट रहा होगा, स्वयं कवि को कभी भी नहीं।

इस प्रकार व्याख्या करते समय सर्वत्र मेरा यही प्रयास रहा है कि शब्दों के साथ प्रकरण और प्रसंगानुसारिणी अन्विति की ठीक-ठीक संहिति हो, जिससे कृति का वास्तविक मूल्याङ्कन हो सके और कवि के साथ समुचित न्याय भी। भावों एवं विचारों की पूर्णता के लिए मैंने अपनी ओर से उन्हीं शब्दों, वाक्यांशों अथवा वाक्यों को रखा है—वह भी कोष्ठकों में, जो कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों में अध्याहृत हों; मैंने तो उनकी विवृति मात्र कर दी है।

टिप्पणी भाग में शब्दों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या ही मुझे अभीष्ट थी, किन्तु विस्तार के भय से मैंने संस्कृत के निकटतम उन्हीं तत्सम शब्दों का

संकेत मात्र कर दिया है, जिससे व्याख्या को पुष्टि मिल सके। संदर्भों में भी मैंने उन्हीं उद्धरणों का उल्लेख किया है, जिनसे शब्दों का भाव या अर्थ समझने और उनके समर्थन में बल मिले। इस दृष्टि से भी कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों के प्रति ही मेरा ध्यान अपेक्षाकृत अधिक रहा है। यथा-स्थल अन्त-र्कथाओं का संक्षिप्त परिचय भी इसी उद्देश्य से कर दिया गया है। छंद के संदर्भ में, 'पद्मावत-सौरभ' के प्रारंभिक छंद की टिप्पणी में जो निर्देश कर दिया गया है, वह पूरे काव्य-ग्रंथ पर चरितार्थ होता है। अलंकारों का उल्लेख भी टिप्पणी के अन्त में इसी उद्देश्य से कर दिया गया है, जिससे कृति के कला-पक्ष का उद्घाटन हो सके।

अन्त में तीन परिशिष्ट हैं। परिशिष्ट एक, दोहानुक्रमणी है जिससे संदर्भों को सहज ही प्राप्त किया जा सके। परिशिष्ट दो, सुभाषित-अनुक्रमणी है जिसके अन्तर्गत प्रस्तुत काव्य-संकलन में उपलब्ध लगभग सभी लोकोक्तियों एवं सूक्तियों को संग्रहीत कर दिया गया है। जिज्ञासु-पाठकों की सुविधा के लिए उसकी छंद संख्या और पंक्ति संख्या का स्पष्ट उल्लेख भी है। परिशिष्ट-तीन में कवि एवं उसकी कृति की संक्षिप्त आलोचना प्रस्तुत की गई है।

षट्ऋतु वर्णन खण्ड, नागमती वियोग खण्ड, नागमती संदेश खण्ड, चित्तौड़ आगमन खण्ड और नागमती-पद्मावती विवाद इन्हीं पञ्चखण्डों की इस व्याख्या को 'सुरभि' की संज्ञा देने के कारण ही प्रस्तुत काव्य-संकलन का नाम-संस्करण भी 'पद्मावत-सौरभ' हुआ है।

अन्त में गुरुदेव प्रो० (डॉ०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के श्री चरणों में अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मेरी इस कृति की भूमिका लेखन का कष्ट वहन किया। श्रद्धेय डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने आशीर्वचन के रूप में 'दो शब्द' लिख कर मुझे प्रोत्साहन प्रदान किया। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल तथा अन्य उन सभी विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञतापूर्वक मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी रचनाओं एवं कृतियों से मुझे रञ्च-मात्र भी सहायता उपलब्ध हुई है। श्री गनपत वर्मा जी का भी आभारी

हूँ जिन्होंने यथा-समय मुझे उपयुक्त सुझाव दिया। प्रकाशक के रूप में नहीं अपितु मित्र के रूप में श्री राजेन्द्रपाल निरुला के प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हूँ, जिनके अध्यवसाय एवं सद्प्रयास से 'पद्मावत-सौरभ' आज इस रूप में आपके हाथों में सुरभित है।

सुधी-विद्वानों के सुझावों की अपेक्षा करते हुए सबसे अन्त में गोस्वामी तुलसीदास के ही शब्दों में "बंदउँ सन्त असज्जन चरना"।

दिनेश कुमार
प्रवक्ता,
हिन्दी-विभाग
चौधरी महादेव प्रसाद महाविद्यालय
(इलाहाबाद विश्वविद्यालय),
इलाहाबाद

'अभय भवन'
३४८ सुभाष नगर, इलाहाबाद।
नागपञ्चमी
मंगलवार; २७ जुलाई १९७१ ई०।

पिय सौं कहेहु सँदेसरा, हे भँवरा हे काग।
सो धनि बिरहैं जरि गई, तेहिक धुआँ हम लाग॥

(१८/८-६)

पद्मावत-सौरभ

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहँ पाउ॥

(२१/८-६)

षटऋतु वर्णन

पदुमावति सब सखीं बोलाईं । चीर पटोर हार पहिराईं ॥
सीस सबन्हि[1] के सेंदुर पूरा । सीस[2] पूरि[3] सब अंग सेंदूरा ॥
चंदन अगर चतुरसम भरीं । नएँ चार जानहुँ अवतरीं ॥
जनहुँ कँवल संग फूली कुईं[4] । कै[5] सो[6] चाँद सँग तरईं उईं[7] ॥
धनि पदुमावति धनि तोर नाहूँ । जेहि पहिरत[8] पहिरा सब काहूँ ॥
बारह अभरन सोरह सिंगारा । तोहि सोह[9] यह ससि संसारा[10] ॥
ससि सो[11] कलंकी[12] राहुहि[13] पूजा । तोहि[14] निकलंक न होइ[15] सरि[16] दूजा ॥

काहूँ बीन गहा कर, काहूँ नाद म्रिदंग ।
सब[17] दिन[18] अनँद गँवावा[19] । रहस[20] कोड[21] एक संग ॥१॥

पाठान्तर—[1]सबन्ह [2]औ [3]राते [4]कूईं [5]× [6]जनहुँ [7]ऊईं [8]अभरन [9]सौंह [10]उजियारा [11]सकलंक [12]रहै [13]नहि [14]तू [15]सरि [16]कोइ [17]सबन्ह [18]× [19]मनावा [20]रहसि [21]कूदि ।

व्याख्या—पद्मावती ने (अपनी) सभी सखियों को बुलाया और उन्हें चीर, पटोर तथा हार पहिनाया । सबके सिर पर (उसने) सिन्दूर पूरा और इस प्रकार सिर पर सिन्दूर पूर कर उन (समस्त सखियों) के सभी अंगों को सिन्दूरित किया । चन्दन, अगुरु और चतुरसम (आदि सुगन्धित द्रव्यों) से आपूरित वे ऐसी प्रतीत होने लगीं मानो नए प्रकार से (पुनर्नूतन होकर) वे अवतरित हुई हों । (सखियाँ पद्मावती के साथ इस प्रकार सुशोभित होने लगीं) मानों

कमलिनी के साथ कुमुदिनियाँ फूली हों, अथवा चन्द्रमा के साथ तारकावलियाँ उदित हुई हों। (सखियाँ कहने लगीं) "हे पद्मावती। तू धन्य है और तेरा स्वामी धन्य है, जिनके (वस्त्राभूषण) पहिनते ही सब किसी ने (वस्त्राभूषण) पहिने। बारहों आभरण और सोलहों शृंगार, हे शशि ! यह संसार में तुझसे ही सुशोभित होते हैं। (किन्तु शशि को तेरे लिए उपमान मानना भी तेरे साथ अन्याय करना होगा क्योंकि) वह चन्द्रमा कलंक (कालुष्य) युक्त है, और राहु को पूजता (उससे ग्रस्त घटता बढ़ता) रहता है, जबकि तुझ निष्कलंक की समता (कोई भी) दूसरा नहीं प्राप्त कर सकता।" (तदनन्तर) सखियों में से किसी ने अपने हाथ में वीणा ले ली, किसी ने मृदंग (वाद्य यन्त्र विशेष) को ध्वनित किया इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण दिवस आनन्दोल्लास, हर्ष और कौतुक में एक साथ मिलकर व्यतीत किया ।।१।।

टिप्पणी—चीर = सोने का काम किया हुआ वस्त्र विशेष।

पटोर = रेशमी वस्त्र (पट्ट कूल)

चतुरसम = चन्दन, केसर, अगुरु तथा कस्तूरी इन चारों का समान मात्रा में मिश्रण कर स्त्रियों के शृंगार के लिए बनाया गया द्रव्य विशेष।

चार = चाल, प्रकार या ढंग।

सरि = सदृश।

रहस = हर्ष (वर्ण विपर्यय, मूर्धन्य 'ष' का दन्त्यीकरण और मध्य स्वरागम)

कोड = कौतुक

बारह अभरन = शरीर मज्जन के उपरान्त—

(१) चन्दन चीर धारण (२) केश-विन्यास (३) माँग में सिन्दूरदान (४) ललाट पर तिलक सज्जा (५) नयनों में कज्जल-अञ्जन (६) कानों में कुण्डल धारण (७) नासिका में फूल या बेसर धारण (८) अधरों पर ताम्बूल-राग

(९) ग्रीवा में कण्ठाभरणादि (१०) कलाई में कंगन, वलयादि (११) कटि में छुद्रावलिकाभरण (१२) पावों में पायल या चूड़ा आदि।

(पद्मावत—२९६/१-९)

सोरह सिंगारा=शरीर के सोलह अवयवों का षोडश-शृङ्गार—

(१) केश, नयन, अँगुली और ग्रीवादि चार दीर्घ,

(२) नाभि, कुच, ललाट और दशनादि चार लघु,

(३) कपोल, कलाई, नितम्ब और जघनादि चार सुभर (मांसल), और

(४) अधर, उदर, कटि और नासिकादि चार क्षीण।

(पद्मावत-२९६/१-९, ४९७/१-९)

अलंकार—छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास उत्प्रेक्षा, सन्देह, प्रतीप और व्यतिरेक।

रस—शृङ्गार रस (संयोग) स्थायी भाव रति।

छंद—प्रथम सात पंक्तियाँ चौपाई (१६ मात्रा अन्त में गुरु) मात्रिक समछन्द और, अन्तिम दो पँक्तियाँ दोहा (१३ और ११ की यति से २४ मात्रा) मात्रिक अर्द्धसम छन्द; छन्दगत दोष का प्राचुर्य।।१।।

[यह छन्द आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रंथावली' में इसी क्रम में उपलब्ध होता है, जब कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'जायसी-ग्रन्थावली' में नहीं, सम्भवतः विद्वान् सम्पादक डॉ० गुप्त ने इसे प्रक्षिप्त मान कर छोड़ दिया है और इसी करण भाषाविद् व्याख्याकार डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी अपने भाष्य ग्रन्थ 'पदमावत' में इस पर अपनी संजीवनी व्याख्या नहीं दी है; तथापि जिज्ञासु पाठकों की सुविधा के लिए इसे यहाँ और उसी क्रम में दिया जा रहा है—]

पद्मावति कह सुनहु, सहेली। हौं सो कँवल, तुम कुमुदिनि बेली ॥
कलस मानि हौं तेहि दिन आई। पूजा चलहु चढ़ावहिं जाई ॥
मँझ पद्मावति कर जो बेवानू। जनु परभात परै लखि भानू ॥
आस पास बाजत चौडोला। दुंदुभि, झाँझ, तूर, डफ ढोला ॥
एक संग सब सोंधें भरी। देव दुवार उतरि भइ खरी ॥
अपने हाथ देव नहलावा। कलस सहस इक घिरित भरावा ॥
पोता मंडप अगर औ चंदन। देव भरा अरगज औ बंदन ॥

कै प्रनाम आगे भई, विनय कीन्ह बहु भाँति।
रानी कहा चलहु घर, सखीं! होति है राति ॥ २ क ॥

व्याख्या :—पद्मावती ने कहा—"हे सहेलियों! सुनो। मैं (यदि) वह कमल हूँ तो तुम (सभी) कुमुद-वल्लरियाँ हो। उस (गत वसन्तोत्सव के) दिन (महादेव जी के मण्डप में) मैं (वर रूप में रतनसेन को प्राप्त करने के निमित्त) कलश चढ़ाने (के संकल्प) को मान आई थी, (अतएव) चलो (वहाँ) जाकर पूजा (का) कलश चढ़ावें।" (सखियाँ पद्मावती का प्रस्ताव मान कर उसके साथ चल पड़ीं, सहेलियों के) मध्य पद्मावती का जो विमान था (वह ऐसा कान्तिमान हो रहा था) मानों प्रभातकालीन भानु परिलक्षित (हो रहा) हो। (पद्मावती के) चौडोल (विमान) के आस-पास (चारों ओर दुंदुभि, झाँझ, तूर्य (तुरुही), डफ और ढोल (आदि वाद्य) बज रहे थे। सुगंधि से आपूरित (उन) सभी सहेलियों के साथ (वह पद्मावती) महादेव के (मंडप) द्वार पर उतर कर खड़ी हो गई। घृत-आपूरित सहस्र-एक कलशों (की सहायता) से (उस पद्मावती ने) अपने ही हाथों (मंडप में प्रतिष्ठित) देवता (की मूर्ति) को स्नान कराया। (तदनन्तर उधर सखियों द्वारा) मंडप में अगुरु और चन्दन का लेपन (लीपना-पोतना) हुआ (और इधर पद्मावती ने स्वयं) देव-मूर्ति को अरगजा (सुगन्धित द्रव्य) और बंदन (सिन्दूर या रोली) से भरा (सजाया) और (श्रद्धा पूर्वक) प्रणाम करके आगे (खड़ी) हुई, अनेक प्रकार से विनय (पूजन) किया।

(पूजन के उपरान्त) रानी पद्मावती ने (अपनी सहेलियों से) कहा—"हे सखियों ! (अब वापस) घर (की ओर) चलो (क्योंकि) रात्रि होने (ही) वाली है ।।२ क।।

टिप्पणी—बेली = बल्लरी । कलस-मानना = किसी मनोकामना की पूर्ति होने पर कलश चढ़ाने का संकल्प करना, मन्नत मानना । देखिए—

'बर संजोग मोहि मेरवहु कलस जाति हौं मानि ।
जेहि दिन इंछा पूजै बेगि चढ़ावौं आनि ।।'
(पद्मावत—१६१/८-६)

मँझ = मध्य । बेवानू = विमान (देखिए छंद सं० ४८/४) ।

चौडोल = चतुर्दोल (देखिए 'चंडोल', छंद सं ४४/३), संभवतः रानियों के लिए चतुर्दोल विमान—चारों ओर घूमने वाली पालकी विशेष का प्रयोग किया जाता रहा) ।

अलंकार—छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा, वृत्यनुप्रास ।।२ क।।

भै[1] निसि धनि जसि ससि परगसी । राजै देखि पुहुमि[2] फिरि बसी ।।
भै[3] कातिकी[4] सरद ससि उवा[5] । बहुरि[6] गगन रवि चाहै छुआ[7] ।।
पुनि[8] धनि धनुक[9] भौंह[10] करि[11] फेरो[12] । काम कटाख[13] टँकोर[14] सो[15] हेरी[16] ।।
जानहुँ नहिं[17] कि[18] पैज पिय खाँचौं । पिता सपथ हौं आजु न बाँचौं ।।
कालि्ह न न होइ रहे[19] सह[20] रामा । आजु करौं[21] रावन संग्रामा ।।
सेन सिंगार महूँ है सजा । गज गति चाल अँचर[22] गति धुजा ।।
नैन समुंद्र[23] खरग[24] नासिका । सरबरि जूझि[25] को मो सौं[26] टिका ।।

हौं रानी पदुमावति, मैं जीता सुख[27] भोग।
तूँ सरबरि करु तासौं, जस[28] जोगी जेहिं[29] जोग ।।२।।

पाठान्तर—[1]भइ [2]भूमि [3]भइ [4]कटकइ [5]आवा [6]फेरि [7]छावा [8]सुनि [9]भौंह [10] धनुक [11]फिरि [12]फेरा [13]कटाछन्ह [14]कोरिहि [15]× [16] हेरा [17] नाहिं [18]× [19]रही [20]महि [21]करहु [22]अँचल [23]समुद (ओ) [24]खड़ग [25]जूझ [26]सहुँ [27]रस [28] जो [29]तोहि ।

व्याख्या—रात्रि हुई और धन्यभागिनी (पद्मावती) चन्द्रमा की भाँति प्रकाशित हुई, किन्तु राजा (रत्नसेन) को देखकर उसने (आकाश पर न जाकर) पृथ्वी पर ही वास किया। (रत्नसेन ने देखा कि) कार्तिकी पूर्णिमा हो रही है क्योंकि शरद् ऋतु का चन्द्रमा (पद्मावती) उदित हुआ है, तब उस सूर्य (राजा रत्नसेन) ने आकाश को छूना चाहा। तब (राजा की इस मनोकामना को देख) उस स्त्री (पद्मावती) ने (अपने) भौहों को धनुष करके फेरा और काम-कटाक्ष का टंकोर करती हुई उसने (उसकी ओर) देखा (और कहा) "हे प्रिय! तुम जानते हो कि नहीं, मैं यह प्रतिज्ञा (रेखा) खींच रही हूँ कि पिता की शपथ है मैं आज (तुम्हें कदापि) न छोड़ूँगी। कल नहीं है कि तुम (शैय्या में) रामा (स्त्री) के साथ (यों ही) रह सके, आज (तो) रामा के साथ रहने के लिए हे रावण! (रमण करने वाले) तुम्हें युद्ध करना पड़ेगा। मैंने भी आज श्रृंगार रस की पूरी सेना सजा रखी है, मेरी गज-गति (ही उस सेना की) चाल है, मेरे अञ्चल की गति ही (उसकी) ध्वजा है, मेरे नेत्र ही समुद्र हैं, और मेरी नासिका ही खड्ग है, (अतः) युद्ध में मेरी प्रति-द्वन्दिता में कौन टिक सकता है? मैं रानी पद्मावती हूँ जिसने (अपने अतुलनीय सौन्दर्य के कारण संसार का समस्त) सुख-भोग जीत लिया है। हे योगी! तू उससे समानता कर जिस (से बराबरी करने) के तू योग्य है" ।। २ ।।

टिप्पणी :—धनि=धन्या, स्त्री।

टंकोर=प्रत्यंचा का शब्द।

पैज =प्रतिज्ञा।

खाँचौं=रेख खींचना (प्रतिज्ञा करना)।

आजु न बाँचौ=पद्मावती द्वारा रत्नसेन को रति युद्ध की चुनौती देने से उसकी प्रौढ़ा नायिका जैसी मनोवृत्ति का स्पष्ट संकेत मिलता है।

कालिह न होइ=यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि कल नहीं जो मेरे साथ रति का रामयुद्ध (शिष्ट और मर्यादित) करके रह गए थे आज तो तुम्हें (अशिष्ट और अमर्यादित) रावण-युद्ध करना पड़ेगा।

सेन =सैन्य, सेना।

अँचर =अंचल (वस्त्र का आँचल)।

सरबरि=प्रतिस्पर्धा।

जूझि =युद्ध में (जूझ,युद्ध)

अलंकार—उपमा, अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास, सांग रूपक।

रस—संयोग शृंगार, स्थायी भाव रति ।।२।।

हौं अस जोगि जान सब कोऊ। बार सिंगार जिते मैं दोऊ।।
उहाँ त[1] समुँह[2] रिपुन[3] दर माहाँ। इहाँ त काम कटक तुव[4] पाहाँ।।
उहाँ त कोपि[5] बैरिदर[6] मंडौं। इहाँ त अधर अमिय रस खंडौं।।
उहाँ त खरग[7] नरिंदन्ह[8] मारौं। इहाँ त बिरह तुम्हार संघारौं।।
उहाँ त गज पेलौं होइ केहरि। इहाँ त[9] गज[10] गामिनि[11] कर हे[12]हरि।।
उहाँ त लूसौं[13] कटक खँधारू। इहाँ त जितौं[14] तुम्हार[15] सिंगारू।।
उहाँ त कुम्भस्थल गज नावौं। इहाँ त कुच कलसन्ह[16] कर लावौं।।

परा[17] बीच धरहरिया, पेम[18] राज कै[19] टेक।
मानहिं भोग छहूँ[20] रितु, मिलि दूनौं[21] होइ एक।।३।।

पाठान्तर—[1]× [2]सामुहे [3]रिपु [4]तुम [5]हम चढ़ि [6]कै दल [7]खड़ग [8]नरिंदहि [9]इहवाँ [10]काम [11]कामिनी [12]हिय [13]लूटौं [14]जीतौं [15]तोर [16]कलसहि [17]परै [18]प्रेम [19]को [20]छवौ [21]दूवौ।

व्याख्या—(पद्मावती की उपर्युक्त चुनौती के प्रत्युत्तर में रत्नसेन ने कहा—)

"सभी जानते हैं कि मैं ऐसा योगी हूँ जिसने (युद्ध में) वीर और शृङ्गार दोनों (ही रसों) पर (समान रूप से) विजय प्राप्त की है। वहाँ (वीर रस के युद्ध-स्थल में) तो मैं शत्रु-दल के सम्मुख रहता हूँ; और यहाँ (शृङ्गार रस के) काम-कटक में तुम्हारे सम्मुख रहता हूँ। वहाँ तो कुपित होने पर मैं शत्रु-दल पर (विजय गर्व के कारण) सुशोभित होता हूँ और यहाँ अमृत-रस (को प्राप्त करने के लिए तुम्हारे) अधरों का खण्डन करता हूँ। वहाँ तो मैं खड्ग से शूर-वीर राजाओं को मारता हूँ और यहाँ तुम्हारे विरह का संहार करता हूँ। वहाँ तो मैं सिंह होकर हाथियों (की सेना) को रौंद डालता हूँ और यहाँ तू (और तुझ सी) गजगामिनी मेरे आक्रमण से बचने के लिए संत्रस्त हुई) 'हे हरि' 'हे हरि' पुकारती है। वहाँ तो मैं (शत्रु पक्ष के) स्कंधावार और (उनमें पड़ी) सेना का विनाश करता हूँ और यहाँ तुम्हारा शृङ्गार (छिन्न-भिन्न कर तुम्हारे काम-जन्य-सौन्दर्य-गर्व को) जीतता हूँ। वहाँ तो मैं हाथियों के (विशाल) कुम्भस्थल को (अपने सम्मुख) झुकाता हूँ और यहाँ तेरे कुच-कलशों को अपने हाथों में करता हूँ। (कवि कहता है कि इस प्रकार उन दोनों के द्वन्द्व में) प्रेम का राजा (कामदेव) टेक करके (दृढ़तापूर्वक) धरहरिया (बीच-बचाव करने वाला) बनकर मध्यस्थ हुआ और (वे) दोनों (राजा रत्नसेन रानी पद्मावती) परस्पर मिलकर और एकमेक होकर छहों ऋतुओं में (दाम्पत्य जीवन के आनन्द का सुख और भोग) मानने लगे ॥३॥

टिप्पणी—समुंह = सम्मुख।

दर = दल (रलयोरभेदः), पेलौं = प्रेरौं, विवश करना, पराजित करना। लूसौं = लूसना, मारना, संहार करना। केहरि = सिंह। खँधारू = स्कन्धावार। नावौं = नमित करना, झुकाना। धर-हरिया = मध्यस्थता करने वाला या निर्णायक (देखिये—'रहा न कोइ धरहरिया' छन्द सं०—६६/६)

अलंकार—छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास, ललितोपमा।

रस—संयोग शृङ्गार रस, स्थायी भाव रति ॥३॥

प्रथम बसन्त नवल रितु आई । सुरितु चैत बैसाख सोहाई ।।
चंदन चीर पहिरि धनि[१] अंगा । सेंदुर दीन्ह बिहँसि भरि मंगा ।।
कुसुम हार औ परिमल बासू । मलयागिरि छिरिका कबिलासू ।।
सौर सुपेती फूलन्ह डासी । धनि औ कन्त मिले सुखबासी ।।
पिउ संजोग धनि जोबन-बारी । भँवर[२] पुहुप सँग करहिं धमारी ।।
होइ फागु भलि चाँचरि जोरी । बिरह जराइ दीन्ह जस होरी ।।
धनि ससि सियरि[३] तपै पिअ सूरू । नखत सिंगार होहिं सब चूरू ।।
जेहि घर कंता रितु भली, आउ[४] बसंता नित्त[५] ।
सुख बहरावहिं[६] देवहरैं, दुक्ख न जानहि[७] कित्तु[८] ।।४।।

पाठान्तर—[१]धरि [२]भौंर [३]सरिस [४]आव [५]नित्त [६]भरि आवहिं [७]जानै [८]कित्त ।

व्याख्या—सर्वप्रथम बसन्त की नवल ऋतु का आगमन हुआ । वह सुन्दर ऋतु चैत और वैशाख (के मास) में सुशोभित हुई । स्त्री (पद्मावती) ने चन्दन-चीर शरीर पर धारण कर हँसते हुए (प्रसन्नतापूर्वक) माँग भरकर सिन्दूर दिया । फूलों के हार और (फूलों के) परिमल की सुगन्ध तो विकीर्ण हो ही रही थी, फिर भी कैलाश (धवल-गृह) में मलयगिरि के चन्दनादि (सुगन्धित द्रव्यों) का छिड़काव हुआ । (शैय्या पर) श्वेत चादर फूलों से आच्छादित थी, ऐसी सुख-वास की शैय्या में स्त्री (पद्मावती) और (उसका) कान्त (रत्न-सेन) दोनों (आकर) मिले । स्त्री की यौवन रूपी वाटिका में प्रियतम का संयोग हुआ इस कारण भ्रमर (प्रिय) और पुष्प (प्रिया) साथ-साथ धमार (स्वच्छन्द क्रीड़ा) करने लगे । चाँचर आयोजन कर भली-भाँति फाग (बसन्तोत्सव) होने लगा और विरह को इस प्रकार भस्मीभूत कर दिया गया जैसे (बसन्त में) होलिका-दाह कर दिया जाता है । स्त्री शीतल चन्द्रमा (हो रही) थी और प्रिय सूर्य की भाँति (कामाग्नि से) तप्त हो रहा था, (फलतः) शृङ्गार रूपी नक्षत्र चूर-चूर हो रहे थे । जिस (स्त्री) के घर में ही उसका कान्त (प्रियतम)

है उसके लिए तो सुहावनी बसन्त ऋतु नित्य बनी रहती है (अथवा कवि का कामना है कि उसके यहाँ ऐसी सुखदा बसन्त ऋतु नित्य ही आया करे) क्योंकि दोनों (इस ऋतु में) दिनों को सुखपूर्वक व्यतीत करते हैं और यह नहीं जानते है कि दुःख किधर (पलायन कर) गया ।।४।।

टिप्पणी—परिमल = विशेष प्रकार से बनाया गया गन्ध-सार ।

कविलासू = 'कैलास' धवल गृह के लिए प्रयुक्त शब्द है ।

सौर = चादर (ताते पाँव पसारिये, जाती लाँबी सौर) ।

सुख-बासी = पर्यंक, सेज ।

बारी = वाटिका ।

धमारी = धम्मार, बसन्त का औद्धत्यपूर्ण नृत्य-गीत परक समारोह ।

चाँचरि = चर्चरी (बसन्त का गीतपरक नृत्य विशेष)

सियरि = शीतल । नखत = नक्षत्र । कंता = कान्त, प्रिय, पति ।

जेहि घर कंता रितु भली—लोकोक्ति का प्रयोग ।

बहराव = व्यतीत करना । देवहरा = दिवस ।
संयोग शृङ्गार रस के अन्तर्गत ऋतुराज बसन्त से षट्ऋतु वर्णन का प्रारम्भ ।

अलंकार—अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास, रूपक, उदाहरण ।।४।।

रितु ग्रीखम[1] कै तपति[2] न तहाँ । जेठ असाढ़ कंत घर जहाँ ।।
पहिरें[3] सुरँग चीर धनि झीना । परिमल मेद रहें[4] तन भीना ।।
पदुमावति तन सियर सुबासा । नैहर राज कंत घर बासा[5] ।।
अधर तँबोर कपूर भिउँसेना । चंदन चरिच लाव नित बेना ।।
ओबरि जूड़ि तहाँ सोवनारा । अगर पोति सुख नेत ओहारा ।।
सेत[6] बिछावन सौर सुपेती । भोग करहिं[7] निसि दिन[8] सुख सेंती ।।

भा अनंद सिंघल सब कहूँ। भागिवंत सुखिया[९] रितु छहूँ॥
दारिवँ दाख लेहिं रस, बेरसहिं[१०] आँब[११] सहार[१२]।
हरियर तन सुवटा कर, जो अस चाखन हार॥५॥

पाठान्तर—[१]ग्रीषम [२]तपनि [३]पहिरि [४]रहा [५]पासा [६]सेज [७]बिलास [८]करहिं [९]कहँ सुख [१०]श्राम [११]सदाफर [१२]डार।

I पं०सं० ४,५ और ६ का पाठ क्रमशः ५,६ और ४ के क्रम से मिलता है।

व्याख्या—ग्रीष्म ऋतु की तपन वहाँ (उस काल प्रतीत) नहीं होती, जहाँ (जिस समय) ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में कान्त (प्रियतम) घर पर ही होता है। (इस ऋतु में) स्त्रियाँ सुन्दर (लाल) रंग के झीने चीर-वस्त्र धारण करती हैं और उनके शरीर (के अंग-प्रत्यंग) से परिमल और मेद की भीनी-भीनी सुगंध निकलती रहती है। पद्मावती का शरीर शीतल और सुवासित हो रहा था (क्योंकि) पिता के घर में उसका राज था और घर में ही उसके पति का निवास था। उसके अधरों पर ताम्बूल और भीमसेनी कपूर (सुशोभित) थे और (अपने शरीर पर) चन्दन चर्चित कर वह नित्य बेना (खस) की सुगन्ध लगाती थी। उसका शयनागार भी अत्यन्त शीतल कक्ष (ओबरी) में था जो (सुगन्धित) अगर से पुता हुआ सुखद परदे से आच्छादित हो रहा था। (शयनागार में शैय्या पर) श्वेत बिछावन था जिसके ऊपर सफेद चादर बिछी हुई थी (जिसपर) वे (दोनों) दिन-रात सुखपूर्वक भोग (बिलास) किया करते थे। सिंहलद्वीप में सर्वत्र आनन्द का साम्राज्य था क्योंकि भाग्यवान के लिए छहों ऋतुएँ सुखद होती हैं। (ग्रीष्म ऋतु के दिनों में वे) अनार और अंगूर का रस पीते थे। (डालों पर) आम तथा (सदा फलने वाले) सहकार विलसते थे। सुए का शरीर इसी कारण सदैव हरा रहता है क्योंकि वह ऐसे (फलों का बराबर) चखने वाला होता है॥५॥

टिप्पणी—सुरंग=सुन्दर रंग, लाल। झीना=क्षीण, महीन। नैहर=

ज्ञातिगृह, ग्यातिगृह (दक्षिण भारतीय उच्चारण) नाइहर = नैहर; माता-पिता का घर। बेना = उशीर या खस की सुगन्धि विशेष। तँबोर = ताम्बूल पत्र (पान)। ओहारा = आच्छादित हुआ। ओबरि = छोटी कोठरी (शयनागार)। नेत = वस्त्र विशेष जिसका उपयोग पर्दा बनाने के लिए किया जाता था। सहार = सहकार, आम्र विशेष। बेरसहिं = विलसहिं। सुवटा = शुक।

संयोग श्रृङ्गार रस के अन्तर्गत षट् ऋतु वर्णन प्रकरण में 'ग्रीष्म ऋतु' का वर्णन है।

भागिवंत सुखिया रितु छहूँ = सूक्ति-वचन।

अलंकार—विरोधाभास; छेकानुप्रास ।।५।।

रितु पावस बेरसै[1] पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सोहावा।।
कोकिल बैन[2] पाँति बग छूटी। धनि निसरी जेउँ[3] बीर बहूटी।।
चमकै[4] बिज्जु[5] बरिस[6] जग[7] सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना।।
रंग राती पिय[8] सँग निसि[9] जागै[10]। गरजै[11] चमकि[12] चौंकि कँठ[13] लागै[14]।।
सीतल बुंद[15] ऊँच चौबारा[16]। हरिअर सब देखिअ[17] संसारा।।
मलै समीर बास सुख बासी। बेइलि फूल सेज सुख डासी[18]
हरिअर भुम्मि[19] कुसुंभी चोला। औ पिय[20] संगम[21] रचा हिंडोला।।
पौन[22] झरक्कै[23] हिय[24] हिरकि[25], लागै[26] सिअरि[27] बतास[28]।
धनि जानै यह पौनु[29] है, पौन[30] सो अपनी[31] आस[32] ।।६।।

पाठान्तर—[1]बरसै [2]वन [3]जनु [4]चमक [5]बीजु [6]बरसै [7]जल [8]पीतम [9]× [10]जागी [11]गरजे [12]गगन [13]गर [14]लागी [15]बूँद [16]चौपारा [17]देखाइ [18]× [19]भूमि [20]धनि [21]पिउ संग [22]पवन [23]झकोरै [24]होइ [25]हरष [26]लागे [27]सीतल [28]बास [29-30]पवन [31]अपने [32]पास।

(I) किन्हीं–२ प्रतियों में द्वितीय पंक्ति में भिन्न अतिरिक्त पाठ इस प्रकार है—

पदमावति चाहति ऋतु पाई। गगन सोहावन; भूमि सोहाई ॥

व्याख्या— प्रियतम को प्राप्त कर वर्षा ऋतु (अधिक) सुशोभित होती है। (प्रिय के संयोग में प्रिया के लिए) सावन और भादों के महीने अधिक सुखद लगते हैं। (वर्षाकाल में) कोयल की (मधुर) बोली सुनाई पड़ती है, (वर्षा के बाद आकाश में) बगुलों की पंक्तियाँ निकल पड़ती हैं और (सज-धज कर) निकलती हुई स्त्रियाँ ऐसी लगती हैं मानों (सुन्दर) बीर-बहू-टियों (की पंक्तियाँ) हों। बिजली चमकने पर (ऐसा लगता है मानों) संसार पर सोना बरस जाता है (अर्थात् बिजली के प्रकाश में वर्षाकालीन बूँदे सुनहली दिखाई पड़ती हैं)। दर्दुर (मेढक) और मयूरों के शब्द (अत्यन्त) कर्ण-प्रिय लगते हैं। प्रिय के रंग में अनुरक्ता (पद्मावती) प्रियतम के साथ (काम-क्रीड़ा निमित्त) रात्रि-जागरण कर रही थी कि बादलों की गर्जना पर और बिजली के कौंधने पर चौंक-चौंक कर (प्रिय के) कण्ठ से लिपट जाती है। (रत्नसेन और पद्मावती) ऊँचे चौबारे में हैं जहाँ (वर्षाकालीन जल की) ठंडी बूँदें (अत्यन्त सुखद दिखाई) पड़ रही हैं (जिस कारण उन्हें) सारा संसार हरा-भरा (अर्थात् अपने ही समान सुखी और प्रेम के रंग में डूबा हुआ) दिखाई पड़ रहा है। मलयानिल चल रही है और सुखबासी शैय्या में दोनों का निवास है, है, वह सुखद सेज बेले के फूलों को बिछाकर तैयार की गई है। उधर पृथ्वी पर हरियाली छाई हुई है, (इधर पद्मावती का) परिधान कुसुम्भी (लाल) रंग का है (और ऐसे सुन्दर वातावरण में) प्रियतम का समागम (ही मानों सुन्दर) हिंडोला बना हुआ है। (पद्मावती के) हृदय से लगकर (जब) पवन संचरित होता है तो उसे वायु की शीतलता का अनुभव होता है। प्रिया (पद्मावती) समझती है कि यह (सामान्य) पवन है, किन्तु (उसे क्या मालूम कि यह) पवन (उसके हृदय के संस्पर्श अथवा अपनी शीतलता के माध्यम से प्रिया को प्रिय से आलिंगित कराने की) अपनी मनोकामना लेकर आया हुआ है ॥६॥

टिप्पणी—बीर-बहूटी=इन्द्र गोपा। सुठि=सुष्ठु; सुन्दर। चौबारा=चतुर्द्वारक; खुला हुआ मण्डप। हिंडोला=हिन्दोलक; झूला। झरक्कै=वायु का अपनी सहज ध्वनि के साथ संचरण (अनुरणनात्मक नाद सौन्दर्य)। हिरकि=संचरित होते हुए लग कर। सिअरि=शीतल।

संयोग शृङ्गार रस केअन्तर्गत षट् ऋतु वर्णन प्रकरण में वर्षा ऋतु का वर्णन।

अलंकार—छेकानुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा ॥६॥

आइ सरद रितु अधिक पिआरी। नौ[1] कुवार[2] कातिक[3] उजिआरी ॥
पदुमावति भै[4] पूनिउँ कला। चौदह[5] चाँद उए[6] सिंघला ॥
सोरह करा[7] सिंगार बनावा। नखतन्ह[8] भरे[9] सुरुज ससि पावा ॥
भा निरमर[10] सब धरनि[11] अकासू। सेज सँवारि कीन्ह फुल डासू[12] ॥
सेत बिछावन औ उजिआरी। हँसि हँसि मिलहिं पुरुष[13] औ नारी ॥
सोने[14] फूल पिरिथिमी[15] फूली। पिउ धनि सों धनि पिउ सों भूली ॥
चखु अंजन दै[16] खँजन देखावा। होइ सारस[17] जोरी पिउ[18] पावा ॥
एहि रितु कंता पास जेहि, सुख तिन्ह[19] के हिय माँह।
धनि हँसि लागे पिय गले[20], धनि गल[21] पिय कै बाँह ॥७॥

पाठान्तर:—[1]आसिन [2]कातिक [3]ऋतु [4]भइ [5]चौदसि [6]उई [7]कला [8]नखत [9]भरा [10]निरमल [11]धरति [12]बासू [13]पुरुष [14]सोन [15]भइ पुहुमी [16]देइ [17]रस [18]रस [19]तेहि [20] गरै [21]गर।

व्याख्या:—(अब और भी) अधिक प्रिय शरद् ऋतु आई जिसमें क्वार तथा कार्तिक महीनों की नवीन उज्ज्वलता (चाँदनी) होती है। पद्मावती (इस ऋतु में) पूर्णिमा कीं चन्द्र-कला होगई (जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों द्वितीया से पूर्णमासी तक के) चौदहों चन्द्रमा सिंहलद्वीप में उदित (हो उठे) हों। (पूर्णिमा के चन्द्र सी पद्मावती ने) सोलहों कलाओं के शृंगार से (अपने आपको) सुसज्जित किया (और इस प्रकार) सूर्य (रत्नसेन) ने (मानों) नक्षत्रों

से युक्त चन्द्रमा (रूप अपनी प्रिया पद्मावती) को प्राप्त किया। धरती और आकाश (तक) सम्पूर्ण (प्राकृतिक वातावरण) निर्मल हो उठा। सेज को सँवार कर पुष्पों से आच्छादित कर दिया गया। सफेद बिछावन पर (चाँदनी की उस) उज्ज्वलता में पुरुष (रत्नसेन) और स्त्री (पद्मावती) परस्पर हँस-हँस कर मिले। पृथ्वी सुनहले फूलों से खिल उठी और प्रिय-प्रिया से तथा प्रिया-प्रिय से (संयुक्त होकर अपने आपको) भूल उठी। (प्रिया ने) आँखों में अंजन देकर खंजनों का दर्शन कराया और (मादा) सारस होकर अपनी जोड़ी (नर सारस) प्रियतम को प्राप्त किया। इस (शरद्) ऋतु में कान्त जिसके पास रहता है उसके हृदय में सुख (ही सुख) होता है (क्योंकि) प्रिया हँसती हुई प्रिय के गले से लिपटती हैं और प्रिया के गले में प्रिय की भुजाएँ होती हैं।।७।।

टिप्पणी :—उजिआरी = औज्ज्वल्य, उज्ज्वल होने का भाव, (देखिए पद सं० १७/१) पूनिउँ = पूर्णिमा। करा = कला। सोरह करा सिंगार = देखिए पद सं० १/६ और टिप्पणी। उए = उदित + हुए। पुरुख = पुरुष। चखु = चक्षु। होइ सारस जोरी पिउ पावा = सारस युग्म सदैव अभिन्न रहता है—

'कुरुलहिं सारस भरे हुलासा। जिअन हमार मुअहिं एक पासा।।'

(पिरिथिमी = पृथ्वी) पद्मावत—३३/६।

संयोग शृंगार रस के अंतर्गत षट्ऋतु वर्णन प्रकरण में शरद् ऋतु का वर्णन है।

अलंकार—छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, उपमा।।७।।

आइ सिसिर रितु तहाँ न सीऊ[1]। अगहन पूस जहाँ[2] घर[3] पीऊ[4]।।
धनि औ पिउ महँ सीउ सोहागा। दुहूँक[5] अंग एक[6] मिलि लागा।।
मन सौं मन तन सौं तन गहा। हिय सौं हिय बिच हार न रहा।।
जानहु चंदन लागेउ अंगा। चंदन रहै न पावै संगा।।
भोग करहिं सुख राजा रानी। उन्ह लेखें सब सिस्टि जुड़ानी।।
जूझैं[7] दुहुँ[8] जोबन सौं लागा। बिच हुत सीउ जीउ लै[9] भागा।।

दुइ घट मिलि एकै होइ जाहीं । अैस मिलहिं तबहूँ न अघाहीं ।।
हंसा केलि करहिं जेउँ[10] सरवर, कुंदहिं[11] कुरुलहिं दोउ ।
सीउ पुकारै ठाढ़[12] भा, जस चकई क बिछोउ ।। ८ ।।

पाठान्तर :—[1]ऋतु हेमन्त संग पीउ न पाला [2]सीत [3]सुख [4]काला [5]दुहुँन्ह [6]एकै [7]जूझ [8]दुवौ [9]लेइ [10]जिमि [11]खूदहि [12]भार ।

व्याख्या :—शिशिर ऋतु आ गई (किन्तु फिर भी) वहाँ शीत (का आभास तक) नहीं होता है जहाँ अगहन और पूस के महीनों में प्रियतम घर पर ही होता है । शीत तो प्रिया और प्रिय के मध्य सुहागा (की भाँति कार्य करता) है (इसी कारण) उन दोनों के अंग-प्रत्यङ्ग परस्पर एक दूसरे से अविच्छिन्न हो मिल गए । उन्होंने मन से मन और शरीर से शरीर को ग्रहण किया तथा हृदय से हृदय को (इस प्रकार) ग्रहण किया कि दोनों के मध्य हार (पराजय अथवा कण्ठाभरण) भी नहीं रह सका (संभवए: अलग रख दिया गया अथवा परिरंभन में टूट कर अलग जा गिरा) । वे परस्पर एक दूसरे के अंगों में चन्दन की भाँति मानों संश्लिष्ट हो उठे [अथवा (उन्हें ऐसी सुखद शीतलता की अनुभूति हुई) मानों उनके अंगों में चंदन का लेप हो उठा हो] और चन्दन उनके संग (शरीर पर) लगा न रहने पाया । राजा (रत्नसेन) और रानी (पद्मावती) सुखपूर्वक (दाम्पत्य जीवन का) भोग कर रहे थे, इस कारण उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण सृष्टि-आनन्दित थी । वे दोनों ही (एक दूसरे के) यौवन से युद्ध करने लगे, जिससे शीत जो कि दोनों के बीच पड़ा हुआ था (वहाँ से अपने) प्राण लेकर भाग खड़ा हुआ । दोनों के शरीर संयुक्त होकर अभिन्न हो जाते थे और इस प्रकार (अनेक बार) मिलने पर भी वे संतृप्त नहीं होते थे । जिस प्रकार हंस सरोवर में केलि-क्रीड़ा करते हैं उसी प्रकार वे दोनों भी कुंदते और कुरलते थे, (फलतः) शीत (अलग) खड़ा हुआ (कातर स्वर में अपनी रक्षा के लिए) दुहाई दे रहा था, जैसे (वह रात्रि के आगमन पर चकवे से) चकई का वियोग हो ।।८।।

टिप्पणी :—ऋतु क्रम में शिशिर का स्थान हेमन्त के बाद आता है, जब कि कवि ने उसे भूल से पहले ही रख दिया किन्तु प्रतिलिपिकारों ने इस संदर्भ में उपयुक्त पाठ भेद कर लिया, जिससे पाठ के साथ न्याय तो हुआ किन्तु कवि और उसके काव्य के साथ पूरा-पूरा अन्याय; देखिए उपर्युक्त पाठान्तर १ और छंद सं० ६ का पाठान्तर १।

सोहागा = सौभाग्य और सुहागा जिसका उपयोग दो धातुओं को मिला कर एक करने में किया जाता है। हार = कण्ठाभरण या पराजय (देखिए छंद सं० ६४/१)। जोवन = यौवन। कुंदहि = सप्रयास आलिंगन करना या सीत्कार करना। कुरुलहिं = कूजना; कलरव करना। सीउ = शीत, उपपति।

संयोग शृंगार-रस के अन्तर्गत षट्ऋतु वर्णन प्रकरण में हेमन्त ऋतु का वर्णन है।

अलंकार—छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास श्लेष, उपमा, उदाहरण ॥८॥

रितु हेवंत संग पीउ न पाला।[१] माघ[२] फागुन[३] सुख[४] सीउ[५] सियाला[६] ॥
सौर सुपेती महँ दिन राती। दगल चीर पहिरहिं बहु भाँती ॥
घर घर सिंघल होइ सुख भोगू। रहा न कतहूँ दुख कर खोजू ॥
जँह धनि पुरुख[७] सीउ नहिं लागा। जानहुँ काग देखि सर भागा ॥
जाइ इंद्र सौं कीन्ह पुकारा। हौं पदुमावति देस निकारा ॥
एहि रितु सदा संग मैं[८] सोवा। अब दरसन हुत[९] मारि[१०] बिछोवा ॥
अब हँसि कै ससि सूरहि भेंटा। अहा[११] जो सीउ बीच हुत[१२] मेंटा ॥
भएउ इंद्र कर आएसु[१३], प्रस्थावा[१४] यह सोइ।
कबहुँ काहु कै[१५] परिभौ, कबहुँ काहु कै[१७] होइ ॥६॥

पाठान्तर—[१]आइ सिसिर ऋतु तहाँ न सीऊ [२]जहाँ [३]माघ [४]फागुन [५]घर [६]पीऊ [७]पुरुष [८]महं [९]तें [१०]मोर [११]रहा [१२]सो [१३]आयसु [१४]बड़ सताव [१५]के [१६]पार भइ [१७]के।

व्याख्या :—हेमन्त ऋतु में प्रिय के साथ पाले की अनुभूति ही नहीं होती। तब तो माघ और फाल्गुन के महीनों में शीतकालीन शीत सुखद हो

उठता है। (इस ऋतु में स्त्री-पुरुष) दिन-रात (शैय्या की) सफेद चादर में ही (पड़े) रहते हैं और नाना प्रकार के दगला और चीर धारण करते हैं। सिंहल-द्वीप में घर-घर सुख-भोग हो रहा था तथा कहीं भी दुःख का नामोनिशान तक नहीं रह गया था। जहाँ स्त्री और पुरुष का सान्निध्य होता है वहाँ शीत नहीं व्यापता (और यदि हो भी तो उसी प्रकार पलायन कर जाता है) जैसे बाण को देखकर कौआ (इन्द्र पुत्र जयन्त) भाग जाता है। (रतनसेन और पद्मावती से प्रताड़ित) शीत रूपी कौआ जाकर इन्द्र के सम्मुख प्रस्तुत हुआ और कहने लगा—"मुझे पद्मावती ने अपने देश से बहिष्कृत कर दिया। इस (सुहावनी) ऋतु में मैं (अभी तक) सदैव उसके साथ शयन करता था, किन्तु अब तो उसने मुझे मार-मार कर (निकाल दिया और) अपने दर्शन से भी वंचित कर दिया है। अब तो वह शशि (पद्मावती) सूर्य (रतनसेन) का हँस-हँस कर आलिंगन करती है (जिससे) जो कुछ भी शीत था उसे भी (दोनों ने) अपने बीच से नष्ट कर दिया है।" इन्द्र का आदेश हुआ—"यह तो वैसी ही बात हुई कि कभी तो किसी का पराभव होता है और कभी किसी का (अर्थात् वही शीत जो दूसरों के प्राणों का ग्राहक होता है वही आज तिरस्कृत हुआ अपने प्राणों की भिक्षा माँग रहा है) ॥६॥

टिप्पणी—रितु हेवन्त = देखिए टिप्पणी छंद सं० ८ और पाठान्तर १।

पाला = तुषार, बर्फीली ठंडक। सियाला = शीत काल। दगल = दगला, रुई की बन्डी। खोजू = निशान या चिह्न; ('खोज मारि रथ हाँकहु ताता' और 'सचिव चलायउ तुरत रथ, इत उत खोज दुराइ।' अयोध्या काण्ड पृष्ठ सं०-४२७ तुलसीदास कृत रामचरित-मानस सभा संस्करण इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग से प्रकाशित)।

प्रस्थावा = सिद्धान्त। परिभौ = पराभव; अपमान या तिरस्कार, अवनति।

'कबहुँ काहु कै परिभौ, कबहुँ काहु कै होइ'—सूक्तिवचन।

संयोग श्रृङ्गार रस के अन्तर्गत शिशिर ऋतु के वर्णन से षट्ऋतु वर्णन प्रकरण का समापन।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, वीप्सा, उदाहरण ॥६॥

नागमति विरह-वर्णन

•

नागमती चितउर पथ[१] हेरा। पिउ जो गए[२] फिरि[३] कीन्ह[४] न फेरा।।
नागरि[५] नारि[६] काहुँ[७] बस परा। तेइँ बिमोहि[९] मोसौं[१०] चितु[११] हरा।।
सुआ काल होइ लै गा पीऊ। पिउ नहिं लेत[१२] लेत[१३] बरु[१४] जीऊ।।
भएउ नरायन बावन करा। राज करत बलि[१५] राजा[१६] छरा।।
करन बान[१७] लीन्हेउ करि[१८] छंदू। भारथ [१९] भएउ[२०] छल[२१] मिला[२२] इन्दू।।
मानत भोग गोपचँद भोगी। लै[२३] अपसवा जलंधर जोगी।।
लै[२४] कान्हहिं भा[२५] अकरूर[२६] अलोपी। कठिन बिछोउ[२७] जिऔं[२८] किमि गोपी।।

सारस जोरी किमि[२९] हरी[३०], मारि गएउ[३१] किन[३२] खग्गि[३३]।
झुरि झुरि पाँजर[३४] धनि[३५] भई, बिरह कै[३६] लागी[३७] अग्गि।।१०।।

पाठान्तर—[१]पथ [२]गएउ [३]पुनि [४]कीन्हि [५]नागर [६]काहु [७]नारि [८]तेइ [९]मोर [१०]पिउ [११]मोसों [१२-१३]जात [१४]बर [१५]राजा [१६]बलि [१७]पास [१८]कै [१९]विप्र [२०]रूप [२१]धरि [२२]झिल-मिल [२३]लेइ [२४]लेइगा [२५]कृस्नहि [२६]गरुड़ [२७]बिछोह [२८]जियहिं [२९]कौन [३०]हरि [३१]त्रिग्राधा [३२]लीन्ह [३३]× [३४]पींजर [३५]हौं [३६]काल [३७]मोहि [२८]दीन्ह।

व्याख्या—(इधर) नागमती चित्तौड़ में (अपने पति रत्नसेन का) बाट जोहती रही, (और यही कहती रही कि) प्रियतम जो गया तो फिर लौटकर वापस नहीं आया। (संभवतः) वह किसी नागरी नारी (के प्रेम-पाश) के वशी-

भूत हो गया (होगा) और उस पर विमुग्ध हो मेरी ओर से अपना चित्त हटा लिया (होगा अथवा उस स्त्री ने अपने प्रेम-जाल में फँसाकर उसका मन मुझसे अलग कर दिया होगा)। सुआ (हीरामन) काल बन कर मेरे पति को मुझसे (अलग न जाने कहाँ) लेकर चला गया। (कितना अच्छा होता कि वह) मेरा प्रिय न लेता भले ही मुझसे मेरे प्राणों को ले लेता। यह सुआ तो (मेरे साथ) जिन्होंने राज्य करते हुए राजा बलि को छला था ऐसे उन वामनावतारी नारायण को (ही) कला (चाल) कर गया। (जैसे) कर्ण ने (परशुराम मुनि से) ब्रह्मास्त्र नामक बाण छल से ले लिया, किन्तु महाभारत (के युद्ध) में उसी के साथ छल हुआ जब उसको इन्द्र (जैसा प्रवंचक) मिला (जो अर्जुन के लिए उसका कवच-कुण्डल ही माँग ले गया था)। राजा गोपीचन्द (तो) भोगी होकर भोग-विलास कर रहे थे (किन्तु) जलन्धर पाद योगी (उन्हें छल से) ले भागा (जिसने उन्हें भोगी से योगी ही बना दिया)। कृष्ण को लेकर अक्रूर विलुप्त हो (मथुरा चला) गया, इस दारुण वियोग में (उनकी प्रेमिकाएँ) गोपियाँ कैसे जीवित रहतीं? (हे व्याध वधिक सदृश सुए!) तू (मुझ मादा) सारस की जोड़ी (नर सारस रूप मेरा पति) क्योंकर हर ले गया? तू मुझ पक्षिणी ही को क्यों न मार गया? यह विरहिणी विरहाग्नि में झुलस-झुलस कर (अब तो) अस्थिपंजर मात्र शेष रह गई है ॥१०॥

टिप्पणी—नागरि नारि = नागरिका, ग्राम्या से भिन्न। बरु = वरम्, भले ही। करन = कर्ण। भारथ = महाभारत काव्य ग्रन्थ, महाभारत का युद्ध अथवा अर्जुन ('यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' भगवद् गीता अध्याय ४/७) इन तीनों ही अर्थों में बराबर होता रहा है। अलोपी = आलुप्त अदृष्ट हो जाना। सारस जोरी = देखिए छन्द सं० ७/७ और टिप्पणी। खग्गि = खगी, पक्षिणी। अग्गि = अग्नि।

अन्तर्कथा—(१) 'भएउ नरायन बावन'—'महाराज बलि के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए नारायण भगवान विष्णु ने वामना-

वतार (बावन अंगुल वाले ब्राह्मण का शरीर) का छल किया और उसका सारा साम्राज्य दान में लेकर उसे पाताल में भेज दिया था।

(२) 'करन बान'—परशुराम से ब्रह्मास्त्र (कवच और कुण्डल) प्राप्त करने के लिए कर्ण ने ब्राह्मण का छल किया किन्तु महाभारत के युद्ध में इन्द्र ने भिक्षुक का छल कर वही ब्रह्मास्त्र कुन्ती-पुत्र अर्जुन को दे दिया।

(३) 'जलन्धर जोगी और गोपीचन्द'—गुरु गोरखनाथ के भी गुरु मत्स्येन्द्र (मछन्दर) नाथ के गुरु भाई जलन्धर पाद नाथ योगी और कापालिक थे। जिनके उपदेशों से प्रभावित होकर बंगाल के राजा गोपीचन्द भोगी से योगी हो गए।

(४) कृष्ण और बलराम को ब्रज से मथुरा बुलाने के लिए कंस ने यज्ञ का छल किया व अक्रूर को भेजा किन्तु कंस-वध के उपरान्त भी वे दोनों लौटकर ब्रज को नहीं लौटे, भेजा भी तो उद्धव को ज्ञान और योग की गठरी देकर तभी तो गोपियाँ मर्माहत हो उठीं और बोलीं—

"लै गयौ अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह
आए तुम आज प्रान-ब्याज उगहन कौ।"—

(उद्धव शतक पृ० ६१ और इसी प्रकार ८६ और ८८ भी)।

रस—विप्रलंभ शृङ्गार रस, स्थायी भावी भाव रति (इस छन्द से लेकर छन्द सं०—४२ तक।

अलंकार—छेकानुप्रास, दृष्टान्त, वीप्सा ॥१०॥

पिउ बियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस[१] बोलै पिउ पीऊ ॥
अधिक काम दगधै[२] सो रामा। हरि जिउ[३] लै[४] सो[५] गएउ पिय नामा ॥
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसोज भीजि तन[६] चोली ॥
सखि हिय हेरि हारि मैन मारी। [७]हहरि[८] परान[९] तजै[१०]अब[११]नारी ॥
खिन[१२] एक आव पेट महँ स्वाँसा[१३]। खिनहिं[१४] जाइ सब[१५] होइ निरासा ॥
पौनु[१६] डोलावहिं सींचहिं चोला। पहरक[१७] समुझि[१८] नारि[१९] मुख बोला ॥
प्रान पयान होत केइँ[२०] राखा। को मिलाव[२१] चात्रिक[२२] कै भाखा ॥
आह[२३] जो मारी[२४] बिरह की[२५], आगि उठी[२६] तेहि हाँक[२७]।
हंस जो रहा सरीर महँ, पाँख जरे[२८] तन[२९] थाक[३०] ॥११॥

पाठान्तर : [१] निति [२] दाधै [३] लेइ [४] सुवा [५] × [६] गइ [७] सूखा हिया हार भा भारी [८] हरे-हरे [९] प्रान [१०] तजहि [११] सब [१२] खन [१३] साँसा [१४] खनहिं [१५] जिउ [१६] पवन [१७] पहर एक [१८] समुझहिं [१९] × [२०] को [२१] सुनाव [२२] पीतम [२३] अहि [२४] मारै [२५] कै [२६] उठै [२७] लागि [२८] जरा [२९] गा [३०] भागि।

व्याख्या :—प्रिय (पति) के वियोग में (नागमती का) जी इतना बावला हो गया कि वह पपीहे की भाँति 'प्रिय' का रट लगाने लगी। कामाधिक्य से वह रामा दग्ध होने लगी, क्योकि 'प्रिय' नामक वह (रतनसेन) उसके प्राणों को (भी अपने साथ) लेकर चला गया था। उसे विरह-बाण ऐसे लगा कि वह हिल न सकी (अर्थात् जड़ हो गई) और उसके शरीर से रक्त स्वेद के रूप में जो बाहर निकला उससे उसकी चोली (स्त्रियों के पहनने का वस्त्र विशेष) तक भीग गई। उसकी (अन्तरंग) सखियों ने अपने हृदय में विचार कर देखा कि काम से प्रताड़ित वह (नागमती) स्त्री हहर (असहाय हो) कर अब अपने प्राणों का

परित्याग कर देना ही चाहती है, (क्योंकि) एक क्षण तो उसके पेट (शरीर) में साँस आ जाती तो दूसरे ही क्षण विलुप्त हो जाती, जिससे सभी को निराशा आ घेरती। वे (सभी सखियां उस विरहणी को स्नेहातिरेक के कारण) पंखा डुलातीं हैं और उसके वस्त्रों को (पानी से) भिगोती हैं (जिससे उसके शरीर की ऊष्मा का का ताप कुछ नियन्त्रित रह सके और उसके लिए प्राणान्तक न हो जाय) किन्तु एक प्रहर के बाद चेतना को प्राप्त होने पर वह (प्रलाप करती हुई सी) कहती है कि—"प्राणों को (अब) जब प्रयाण करना ही है तो (उन्हें) कौन रोक सकता है ? (क्योंकि एकमात्र उपचार तो प्रिय दर्शन ही है और) चातक की भाषा 'पीऊ' से कौन मिला सकता है ? (अर्थात् कोई भी नहीं)।" (इस प्रकार विलाप और प्रलाप करती हुई विरहणी नागमती ने) जो प्रिय वियोग की उच्छ्वास छोड़ी, उस हांक (उच्छ्वास मिश्रित कराह) के कारण अग्नि प्रज्वलित हो उठी। (फलतः) जो उसके शरीर में स्थित हंस (जीवात्म तत्व रूपी पक्षी) था उसके पंख ही जल गये और उसका शरीर (उड़ सकने की असमर्थता में) थक गया (शिथिल हो गया अर्थात् प्राण पखेरू जो उड़ने की ताक में था पंखों के जल जाने पर वहीं थक कर गिर पड़ा) ।।११।।

टिप्पणी : बाउर = वात-ग्रस्त, बावला। अधिक काम = कामातिरेक पसीज = प्रस्वेद, पसीना आना। चोली = स्त्रियों का वस्त्र विशेष (देखिये छंद सं० ६१/३)। हहरि = हा-हा कर (ध्वन्यात्मक अभिव्यक्त। खिन = क्षण। मैन = काम (भावना और व्यक्ति दोनों अर्थों में। पयान = प्रयाण। प्रान पयान होत केइँ राखा = सूक्ति वचन हंस = पक्षी विशेष, जीवात्मा विरह चित्रण मर्मस्पर्शी हो उठा है।

अलंकार—वीप्सा, रूपक वृत्यनुप्रास, अतिशयोक्ति, श्लेष ।।११।।

पाट महादेइ हिए न हारू। समुझि जीउ चित चेतु सँभारू ।।
भँवर[1] कँवल सँग होइ न[2] परावा[3]। सँवरि नेह मालति पँह आवा ।।
पीउ[4] सेवाति[5] सौं जैस[6] पिरीती[7]। टेकु पिआस बाँधु जिअ[8] थीती ।।

धरती[९] जैस गगन के[१०] नेहा। पलटि भरै[११] बरखा[१२] रितु मेहा॥
पुनि बसंत रितु आव नवेली। सो रस सो मधुकर सो बेली॥
जनि[१३] अस जीउ[१४] करसि तूँ नारी[१५]। दहि[१६] तरिवर पुनि उठहिं सँभारी॥
दिन दस जल[१८] सूखा[१९] का[२०] नंसा[२१]। पुनि सोइ[२२] सरवर सोई हंसा॥
मिलहिं जो बिछुरै[२३] साजना[२४], गहि-गहि[२५] भेंट[२६] गहंत।
तपनि मिरगि[२७] सिरा जे सहहिं[२८], आद्रा[२९] ते[३०] पलुहंत॥१२॥

पाठान्तर :— भौंर [१] [२] X [३] मेरावा [४] पपिहै [५] स्वाती [६] जस [७] प्रीती [८] मन [९] धरतिहि [१०] सौं [११] आव [१२] बरषा [१३] जनि [१४] जीव [१५] बारी [१६] यह [१७] सवाँरी [१८] बिनु [१९] जल [२०] सूलि [२१] बिधंसा [२२] सोई [२३] बिछुरे [२४] साजन [२५] अंकम [२६] भेंटि [२७] मृग [२८] सहै [२९] ते [३०] अद्रा।

व्याख्या :—(सखियों ने आश्वासन देते हुए कहा—) "हे पट्ट-महादेवी (नागमती)! हृदय में हार (मानकर निराशा) मत मानो। प्राणों (की विषम स्थिति को) समझ कर (और अपने) चित्त में चेतना सँभालो। भ्रमर (रत्नसेन) कमल (पद्मावती की आसक्ति में उसके साथ) होने पर भी पराया नहीं हो जाता है, मालती (तुझ नागमती) के स्नेह की स्मृति मात्र होते ही वह उसके पास पुनः आएगा (और अपनी निष्ठुरता को अवश्य स्वीकार करेगा)। जैसी प्रीति पपीहे की स्वाती (नक्षत्र रूप) प्रिय से होती है (कि मरणासन्न होने पर भी यथासम्भव अपने प्राणों की रक्षा करता है और प्यासा होकर भी स्वाती के बूंदों के अतिरिक्त किसी अन्य सामान्य जल की ओर मुड़ कर भी नहीं देखता उसी प्रकार) तू भी अपने हृदय में स्थिरता ला और प्रियतम के दर्शन की अभिलाषा रूप पिपासा को टेक (रोक)। जिस प्रकार पृथ्वी आकाश के प्रेम में (डूबी) रहती है तो मेघ वर्षा ऋतु में वापस आकर उसे रस (जल) मग्न कर

देता है (उसी प्रकार तुम्हारा प्रिय भी वापस आने पर तुम्हें अवश्य रस-मय कर देगा)। नवेली वसन्त ऋतु पुनः आएगी और (तुम्हारे जीवन रूपी उद्यान में) वही रस (आनन्द), वही मधुकर (रत्नसेन) और वही बेल (प्रेम) पुनः होंगे। (ऐसा विचार कर) हे विरहिणी! तू अपने जी को ऐसा (अधीर, कातर और दुःखी) मत बना। (ग्रीष्म की ऊष्मा से) दग्ध तरुवर (रत्नसेन) भी (वर्षाकाल में) पुनः सँभल उठते हैं। (जिस प्रकार) दस दिनों के लिए यदि सरोवर का जल सूख भी गया तो क्या हानि हो गई (वर्षा काल में) पुनः वही सरोवर जल-पूरित हो उठेगा और (उसका प्रिय) वही हंस (रत्नसेन) पुनः आवेगा (क्योंकि वियुक्त प्रिय जनों का सम्मिलन तो अवश्यम्भावी होता है)। जब बिछुड़े हुए प्रिय मिलते हैं (वे अपनी) प्रियाओं को (उनके मान और उपालम्भन करने पर भी स्नेहातिरेक के कारण) पकड़-पकड़ कर बार-बार आलिंगन करते हैं क्योंकि (कवि अथवा सखी कथन-) मृगशिरा (अधिकाधिक ऊष्मा और ताप का) नक्षत्र की तपन को जो (प्राकृतिक उपकरण) सहन करते हैं, वही आर्द्रा (वर्षाकाल के प्रथम) नक्षत्र में अंकुरित और विकसित होते हैं ॥१२॥

टिप्पणी :—पाट महादेइ = पट्ट महादेवी। सेवाति = स्वाति नक्षत्र (लक्षणाया जल)। टेकु = मर्यादित कर, रोक। पिआस = पिपासा। थीती = स्थिति। गगन = आकाश लक्षणायामेघ। दहि = दग्ध। सँभारी = सम्बल पा कर। नंसा = नष्ट होना, बिगड़ना। साजना = स्वजन, प्रियजन। मिरिगसिरा और आद्रा = मृगशिरस् और आर्द्रा नक्षत्र विशेष। पलुहंत = पल्लवित होना। तपनि मिरिगसिरा जे सहहिं आद्रा ते पलुहंत = सूक्ति-वचन। दिन दस = मुहावरा।

अलंकार—छेकानुप्रास, दृष्टान्त, अन्योक्ति, वीप्सा ॥१२॥

चढ़ा असाढ़ गगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा॥
धूम स्याम[1] धौरे घन धाए। सेत धुजा[2] बगु[3] पाँति देखाए॥
खरग[4] बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै[5] घन घोरा॥

अद्रा लाग बीज[६] भुइँ लेई। मोहि पिय[७] बिनु[८] को आदर देई॥
ओनै[९] घटा आई[१०] चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं[११] बेझ[१२] घट रहै न जीऊ॥
पुख[१३] नछत्र[१४] सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मँदिर को छावा॥
जिन्ह घर कंता ते सुखी, तिन्ह गारौ तिन्ह[१५] गर्व।
कंत पिआरा बाहिरें[१६], हम सुख भूला सर्ब॥१३॥

पाठान्तर—[१]साम [२]धजा [३]बग [४]खड़ग [५]अरसहिं [६]बीज [७]बिनु [८]पिउ [९]ओनई [१०]आइ [११]गिरै [१२]बीजु [१३]पुष्य [१४]नखत [१५]औ [१६]बाहिरै।

(I) पंक्ति सं० ४, ५, ६ और ७ का क्रम क्रमशः ७, ४, ५, ६ भी प्राप्त होता है।

व्याख्याः—(विरहणी नागमती का स्वागत कथन) "आषाढ़ मास (प्रकृति पर चढ़ाई करता हुआ) आ पहुँचा। आकाश में (चारों ओर) बादल गर्जना कर रहे हैं, (ऐसा प्रतीत होता है मानो) विरह ने (उसके) सैन्यदल को दुन्दुभी (युद्ध का विशेष) वाद्य से सुसज्जित कर दिया है। धूमिल (धुएँ के रंग), काले और सफेद बादल घनीभूत होकर (आकाश में) दौड़ पड़े हैं, बगुलों की पंक्तियाँ (उसके रथ की) पताका के रूप दिखाई देने लगी है। चारों ओर तड़ित् के रूप में तलवारें चमक रही हैं और घन-घोर (वर्षा के कारण जल की बड़ी-बड़ी) बूँदे ही बाण हैं जो (बड़े वेग से पृथ्वी तल पर) बरस रही हैं। आर्द्रा नक्षत्र (भी) लग गया है और पृथ्वी में बीज-वपन का कार्य प्रारंभ हो गया है किन्तु प्रियतम (रत्नसेन) के बिना मुझे कौन समादृत करे? चारों ओर से (काली-काली) घटाएँ घिर आई हैं (ऐसे मादक क्षणों में) हे प्रिय! मदन से घिरी मुझ (विरहिणी नागमती) की रक्षा कर। मेढक, मयूर, कोकिला और पपीहा (चिल्ला-चिल्ला कर मेरे कर्ण-कुहरों को) विदीर्ण कर रहे हैं (अथवा मुझे अपना वेध्य या लक्ष्य बना रहे हैं), फलतः शरीर में प्राण भी नहीं रहने पा रहा है। पुष्य नक्षत्र (घनघोर वृष्टि का नक्षत्र भी) सिर के ऊपर (ही) आ गया

(अर्थात् अब शीघ्र ही लगने वाला) है, किन्तु मैं तो विना स्वामी की हूँ, (मुझ विरहणी के) मंदिर (भवन) को कौन आच्छादित करेगा ? जिन (स्त्रियों) के घर पर उनके (पति या प्रियतम इस काल में) हैं, वस्तुतः वे ही सुखी और धन्य भागिनी हैं। प्रिय (पति रत्नसेन) की अनुपस्थिति (प्रवास काल) में तो मुझ नागमती का सारा सुख (न जाने कहाँ) भूला हुआ है ।।१३।।

टिप्पणी:—विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत "बारहमासा" वर्णन का प्रारंभ आषाढ़ मास के वर्णन से होता है।

गाजा = गर्जन करना । दुंद = दुंदुभी (वाद्य विशेष) । बाजा = अज, आ पहुँचा । धौरे = धवल । सेत = श्वेत । धुजा = ध्वजा । पाँति = पंक्ति । खरग = खड्ग । बीज = विद्युत, बिजली और बीज । ओनै = अवनमित हो । मदन = काम (भावना और व्यक्ति दोनों ही ही अर्थों में) । बेझ = वेध्य । पुख = पुष्य नक्षत्र । मँदिर = घर, भवन । गारौ = गौरव । सिर ऊपर आवा = मुहावरा ।

अलंकार—मानवीकरण, छेकानुप्रास, रूपक, यमक ।।१३।।

सावन बरिस[1] मेह अति वानी[2] । भरनि भरइ[3] हौं बिरह झुरानी ।।
लागु पुनर्वसु पीउ न देखा । भै[4] बाउरि कहँ कंत सरेखा ।।
रकत क[5] आँसु परे[6] भुइँ टूटी । रेंगि चली जनु[7] बीर बहूटी ।।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला । हरिअर भुइँ[8] कुसुंभि[9] तन[10] चोला ।।
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा । बिरह झुलावै[11] देइ झँकोरा[12] ।।
बाट असूझ अथाह गँभीरी । जिउ बाउर भा भवै[13] भँभीरी ।।
जग जल बूड़ि[14] जहाँ लगि ताकी । मोर[15] नाव खेवक बिनु थाकी ।।
परबत समुँद अगम बिच, बन[16] बेहड़[17] घन[18] ढंख[19] ।
किमि करि[20] भेटौं कंत तोहिं[21], ना मोहिं पाँव न पंख[22] ।।१४।।

पाठान्तर—[1]बरस [2]पानी [3]परी [4]भइ [5]कै [6]परहिं [7]जस [8]भूमि [9]कुसुंभी [10] × [11]झुलाइ [12]झकझोरा [13]फिरे [14]बूड़ [15]मोरि [16]बीहड़ [17]धन [18]घन [19]ढाँख [20]कै [21]तुम्ह [22]पाँख ।

व्याख्या :—(आषाढ़ भी बीत गया किन्तु नागमती का पति रत्नसेन नहीं आया, सावन की घटाएँ आकाश में ही नहीं विरहिणी की आँखों में भी छा गईं और वह विलाप करती हुई कहती है) "सावन के रंग-बिरंगे बादल बरस रहे हैं, उधर धान के खेतों में भरनी भरती जा रही है किन्तु में विरह-संताप में (और भी अधिक) सूखती जा रही हूँ। पुनर्वसु नक्षत्र (भी) लग गया किन्तु अभी तक मैंने अपने प्रिय का दर्शन नहीं किया; इसी कारण वियोग में मैं बावली हो गई हूँ (कि)न जाने कहाँ मेरा चतुर स्वामी (जा बसा) है ? (मेरी आँखों से) रक्त के अश्रु विन्दु पृथ्वी पर गिर टूट-टूट कर (ऐसे प्रतीत हो रहे हैं) मानों बीरबहूटियाँ रेंग कर चल पड़ी हों। (मेरी सभी) सखियों ने (अपने अपने) प्रिय के साथ झूला सजा लिया है, पृथ्वी हरित वर्णा हो रही है और उनके शरीर पर कुसुंभी (लाल) रंग के परिधान हैं, किन्तु मुझ विरहिणी का हृदय हिंडोले की भाँति (इधर-उधर) चक्कर खा रहा है जिसे विरह (अपने पूरे वेग के साथ) हिचकोले देकर झुला रहा है। (मैं तो प्रियतम का बाट देख रही हूँ किन्तु घनघोर बादलों के कारण) मार्ग दिखलाई नहीं पड़ता और (वृष्टि के कारण) अथाह और भयावना होता जा रहा है ऐसी (विषम) स्थिति में मेरा मन बावला हुआ भँभीरे की भाँति भ्रमित हो रहा है। जहाँ तक दृष्टि जाती है सम्पूर्ण जगत् जलाप्लावित हो उठा है, और उसमें मेरी (जीवन)-नौका माँझी के अभाव में स्थिर होकर रुक गई है (उसमें कोई भी स्पन्दन शेष नहीं रह गया है)। हे कान्त ! (तेरे और मेरे बीच) पर्वत, अगम्य समुद्र, बीहड़ बन प्रदेश और घने ढाक के वन (व्यवधान स्वरूप हैं ऐसी स्थिति में) मैं तुझसे किस प्रकार आ मिलूँ क्योंकि न तो मुझे (ऐसे) पैर ही प्राप्त हैं (जो इन्हें लाँघ सकें) और न पंख (जिनके सहारे उड़कर ही मैं इन्हें पार कर सकूँ) ॥१४॥

टिप्पणी :—विप्रलंभ शृंगार रस के अंतर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में श्रावण मास का वर्णन।

मेह=मेघ। अति बानी=अतिवर्णी, रंग बिरंगे। भरनि=भरनी नक्षत्र विशेष; धान के खेतों में जल का भराव। पुनर्वसु=नक्षत्र विशेष। सरेखा=चतुर, ज्ञानी। आँसु=अश्रु। भुइँ=

भूमि । बीर बहूटी=(देखिए छंद सं० ६/२) इन्द्रगोपा। हिन्डोला=(देखिए छंद सं० ६/७)। बाट=वर्त्म, मार्ग। भँभीरी=वर्षा के बाद भनभनाते हुए चारों ओर चक्कर काटने वाला एक छोटा पंतिगा विशेष। ताक=तर्क करना, देखना। पंख=पक्ष, पक्षियों के पंख। 'ना मोहिं पाँव न पंख' में विरहणी की विवशता मार्मिक हो उठी है।

अलंकार—अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, छेकानुप्रास, उपमा ॥१४॥

भर[1] भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी ॥
मँदिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नाग[2] भै[3] धै[4] धै[5] डसा ॥
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैंन पसारि मरौं हिय फाटी ॥
चमकि[6] बीज[7] घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा ॥
बरिसै[8] मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं[9] जसि ओरी ॥
पूरबा लाग पुहुमि[10] जल पूरी। आक जवास भई हौं[11] भूरी ॥
धनि सूखी[12] भर भादौं माहाँ। अबहूँ आइ[13] न[14] सींचसि[15] नाहाँ ॥
जल थल भरे अपूरि[16] सब, गगन[17] धरति[18] मिलि एक।
धनि जोबन औगाह[19] महँ, दे बूड़त पिअ टेक ॥१५॥

पाठान्तर—[1]भा [2]नागिनी [3] × [4]फिरि [5]फिरि [6]चमक [7]बीजु [8]बरसै [9]चुवै [10]भूमि [11]तस [12]सूखे [13]न [14]आएन्हि [15]सींचेन्हि [16]अपूर [17]धरनि [18]गगन [19]अवगाह।

(I) पंक्ति सं० ६ और ७ का क्रम भेद क्रमशः ७ और ६ मिलता है।

व्याख्या—"(जल से) भरा भादों का महीना मेरे लिए दूभर, (फलतः) अत्यधिक कष्ट साध्य हो रहा है। (प्रिय के बिना) इन अँधेरी रातों को कैसे

व्यतीत करूँ ? मेरा प्रियतम (रत्नसेन) अन्यत्र जा बसा है (जिस कारण मेरा) भवन सूना है, और शैय्या नागिन होकर मुझे पकड़-पकड़ कर डस लेना चाहती है। (इस कारण शैय्या पर मैं) उसकी एक ही पाटी पकड़े। अकेली (असहाय) पड़ी रहती हूँ (और अँधेरी रातों में नींद न लगने के कारण) नेत्रों को विस्फारित करते हुए हृदय-विदीर्ण होने से (वियोग के कारण) मरी जा रही हूँ। बिजली चमक-चमक कर और बादल अपनी गर्जना से मुझे संत्रस्त करते हैं तथा विरह काल बन कर मेरे प्राणों को ग्रस लेना चाहता है। (उधर) मघा नक्षत्र की मूसलाधार वृष्टि हो रही है और (इधर) मेरे दोनों नेत्र (प्रिय वियोग में) उसी प्रकार आँसू गिरा रहे हैं जिस प्रकार (मकान के छत की) ओरी (टप-टप बराबर) चूती रहती हो। पूर्वा (फाल्गुनी) नक्षत्र भी लग गया और पृथ्वी जल से आपूरित हो उठी किन्तु (प्रिय-विरह के कारण) अर्क और जवासा बनी मैं सूखती जा रही हूँ। भादों के महीने में (जब कि सारी सृष्टि जलमय हो उठती है) यह स्त्री (नागमती) सूख गई किन्तु हे प्रिय (रत्नसेन) तू अब भी आकर (उसे अपने प्रेम-वर्षा से) नहीं सींच रहा है। जल और स्थल सभी आपूरित हो उठे, आकाश और पृथ्वी (दो छोर पर रहते हुए भी इस काल में अनवरत जल बरसने से) मिल कर एक हो रहे हैं। यौवनावस्था के अथाह जल में डूबती हुई इस (मुझ नागमती) स्त्री को हे प्रियतम (अब भी) सहारा दे (जिससे बच जाय) ॥१५॥

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृंगार रस के अंतर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में भाद्रपद मास का वर्णन है।

सून=शून्य। अनतै=अन्यत्र व। सेज=शैय्या। डसा=दंश। पाटी=पट्टिका। पसारि=प्रसारि, फैलाकर। तरासा=त्रास देना। गरासा=ग्रस्त करना। मघा=नक्षत्र विशेष। झँकोर झँकोरी=मूसलाधार। ओरी=नाली, छाजन के एक किनारे का वह भाग जहाँ से ऊपर का पानी नीचे को गिरता है। पूरबा=पूर्वा का फाल्गुनी नक्षत्र विशेष। आक जवास=अर्क (मदार) और जवास (बरसाती घास) दोनों ही पानी बरसने पर जल या

सूख जाते हैं (देखिए बिहारी रत्नाकर "जैसे बरसैं मेह जरै जवासौ जौ जमै" सोरठा छंद सं० ३२६/पृ० सं० १३७)

अलंकार—छेकानुप्रास, उपमा, विरोधाभास ।।१५।।

लाग कुआर नीर जग घटा । अबहुँ[1] आउ पिउ[2] परभुमि[3] लटा ।।
तोहि देखे पिउ पलुहै काया[4] । उतरा चित्त[5] बहुरि करु माया[6] ।।
उए[7] अगस्ति[8] हस्ति घन गाजा । तुरै[9] पलानि चढ़े रन राजा ।।
चित्रा मिंत[10] मींर[11] घर आवा । कोकिल[12] पीउ पुकारत पावा ।।
स्वाति बुंद[13] चातिक[14] मुख परे । सीप[15] समुंद्र[16] मोति[17] सब भरे ।।
सरवर सँवरि हंस चलि आए । सारस कुरुरहि[18] खँजन देखाए ।।
भए[19] बिगास[20] काँस बन फूले । कंत न फिरे बिदेसहिं भूले ।।

बिरह-हस्ति तन सालै, खाइ[21] करै तन[22] चूर ।
बेगि आइ पिअ बाजहु, गाजहु होइ सदूर ।।१६।।

पाठान्तर—[1]अबहूँ [2]कंत [3]तन [4]कया [5]चीतु [6]मया [7]उआ [8]अगस्त [9]तुरय [10]चित्र [11]मीन [12]पपिहा [13]बूंद [14]चातक [15]समुद [16]सीप [17]मोती [18]कुरलहिं [19]भा [20]परगास [21]धाय [22]चित ।

(I) पंक्ति सं० ३ और ४ का पाठ ४ और ३ क्रम में प्राप्त होता है ।

व्याख्या—"क्वार का महीना लग गया, (भादों का) जल संसार में घट कर कम होने लगा है (अर्थात् मार्ग आवागमन के उपयुक्त हो चुका है) परभूमि (परदेश) पर लुब्ध हे प्रिय ! तू अब भी आ जा । यह मेरी काया तुझे देखकर ही पनप सकेगी, यद्यपि तेरा मन (किसी अन्य के प्रति आसक्त होने के कारण) मुझसे अलग हट गया है तथापि मेरे विरह पर दया कर और पुनः (लौट) आ । अगस्त तारे के उदित होते ही हस्त नक्षत्र के बादल गरजने लगे हैं । घोड़ों पर पलाने (जीन) कस कर राजा गण युद्ध के लिए चढ़ाई करने लगे हैं ।

चित्रा नक्षत्र का सूर्य अब मीन (राशि) के घर में आ चुका है, यही नहीं कोकिला और पपीहा (पक्षी) भी अपना अभीष्ट प्राप्त कर रहे हैं। स्वाती नक्षत्र (के जल) की बूंद चातक के मुख में पड़ गई और समुद्र की सभी सीपियों के अन्तर्गत मुक्ता-फल आपूरित हो उठे हैं। जलाशयों का स्मरण कर हंस भी वापस आ गए हैं और उनके साथ-साथ सारस कलरव कर रहे हैं तथा खंजन पक्षी भी (जो न जाने कहाँ जा छुपे थे) अब दिखाई पड़ने लगे हैं। (सूर्य का) प्रकाश होने के कारण बन में काँस भी फूल उठे हैं किन्तु विदेश में भूला हुआ हे प्रिय! तू अब भी वापस लौट कर नहीं आया। विरह रूपी हस्ती मेरे शरीर को पीड़ा दे रहा है और उसे खा-खा कर टुकड़े-टुकड़े किए दे रहा है (इसलिए) हे प्रिय! तुम सिंह की भाँति गर्जना करो और शीघ्र ही यहाँ आकर उससे युद्ध करो (जिससे मेरी रक्षा हो सके) ॥१६॥

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में आश्विन मास का वर्णन है।

लटा = लुटा लुब्ध। उतरा = उतरा, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र विशेष चित्त = हृदय, चित्रा नक्षत्र विशेष। हस्ति = हस्त नक्षत्र विशेष। अगस्ति = अगस्त तारा विशेष। तुरै = तुरग। पलानि = पर्याण (जीन) रखना। मीर = मीन राशि। स्वाति = नक्षत्र विशेष। चूर = चूर्ण। बाजहु = देखिए छंद सं० १३/१ और टिप्पणी। सदूर = शार्दूल; सिंह।

अलंकार—अन्त्यानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्लेष, रूपक, मुद्रा। (मुख्य अर्थ के अतिरिक्त उपर्युक्त छंद में इन नक्षत्रों का भी उल्लेख हुआ है—उत्तरा फाल्गुनी, चित्रा, हस्त, और स्वाति, इनके अतिरिक्त वृष्टि के ६ नक्षत्रों में ५ नक्षत्रों का नाम पूर्व छन्दों में आ चुका है जो इस प्रकार है—आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, मघा, और पूर्वा फाल्गुनी, श्लेषा नक्षत्र का नाम नहीं आया है ॥१६॥

कातिक सरद चंद उजिआरी। जग सीतल हौं बिरहैं जारी ॥
चौदह करा कीन्ह[1] परगासू[2]। जनहुँ जरै सब धरति[3] अकासू[4] ॥
तन मन सेज करै अगिडाहू[5]। सब कहँ चाँद[6] भएउ मोहि राहू ॥
चहूँ खंड लागे[7] अंधिआरा। जौं घर नाहिंन[8] कंत पिआरा ॥
अबहूँ निठुर आव[9] एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा ॥
सखि झूमक गावहिं[10] अंग मोरी। हौं झूरौं[11] बिछुरी जेहि[12] जोरी ॥
जेहि घर पिउ सो मनोरा[13] पूजा। मो कहं बिरह सवति दुख दूजा ॥
सखि मानहिं[14] तेवहार[15] सब, गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं[16] कंत बिनु, (तेहिं)[17] रही छार सिर मेलि ॥१७॥

पाठान्तर—[1] चांद [2] परगासा [3] धरनि [4] अकासा [5] अगिदाहू [6] चंद [7] लागै [8] नाहीं [9] आउ [10] गावै [11] झुरांव [12] मोरि [13] मनोरथ [14] मानैं [15] तिउहार [16] गावौं [17] × ।

व्याख्या—कार्तिक के महीने में शरद् ऋतु के निर्मल चन्द्र का उज्ज्वल प्रकाश (फैल रहा) है जिससे सम्पूर्ण जगत् शीतल है किन्तु एक मै ही अकेली विरह की अग्नि में प्रज्वलित हो रही हूँ। उसने अपनी चतुर्दश कलाओं को जब विकसित किया तो ऐसा प्रतीत होता है मानो सम्पूर्ण धरती और आकाश जल रहे हैं। (शरद् ज्योत्स्ना में) शैय्या मेरे तन और मन को जला रही है। सभी के लिए तो वह चन्द्रमा (सुखद होता) है किन्तु मेरे लिए तो राहु बना (दुखद हो रहा) है। यदि प्रियतम घर पर न हो (तो इस कार्तिक के महीने में) तो चारों दिशाएँ अंधकारमयी प्रतीत होती हैं। निष्ठुर प्रिय! अब भी इस द्वार पर आ जा जब कि सारे संसार में दीपावली का पर्व मनाया जा रहा है। (मेरी) सखियां अंग मोड़-मोड़कर (नृत्य करती हुई) झूमर गाती हैं किन्तु मैं (जो) अपने प्रिय (की जोड़ी) से वियुक्त हुई सूख रही हूँ। जिसके घर पर (मेरा) प्रियतम होगा वह मनोरा का उत्सव मना रही होगी किन्तु मेरे लिए विरह और सपत्नी दुःख दोनों से अवकाश ही कहां? सभी सखियां दीपावली का त्योहार गीत

नृत्य और रंग-रलियों में मना रही हैं (किन्तु) मैं प्रियतम के बिना दीपावली का खेल किस प्रकार खेलूँ, इसीलिए अपने सिर पर दुखित होकर राख (या धूल) डाल रही हूँ ॥१७॥

टिप्पणी : विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत 'बारह-मासा' वर्णन प्रकरण में कार्तिक मास का वर्णन है।

अगिडाहू = अग्नि दाह। सब कहँ = सर्वतः, सब तरह से। राहु = दुष्ट ग्रह जिसके कारण ग्रहण होता है। चहूँ खण्ड = सृष्टि के चारों खण्ड [या दिशायें (देखिये छंद सं० ४८/७)। बारा = द्वार। झूमक = झूमर एक विशेष प्रकार का गीत जिसे स्त्रियां अंग मोड़ मोड़ कर नृत्य करती हुई गाती हैं। परब = पर्व, त्योहार। देवारी = दीपावलि, दीवाली। मनोरा = स्त्रियों का पूजन परक उत्सव विशेष जिसे वर्षा ऋतु की विदाई और शरद ऋतु के स्वागत में मनाती हैं। सवति = सपत्नी, सौत। दूजा = द्वितीय। छार = क्षार, राख, धूलि। मेल = डालना।

झूमर गान, मनोरा पूजन और दीपावली का वर्णन कर जहां एक ओर कवि ने कार्तिक मास का सजीव चित्र अंकित किया हैं, वहां दूसरी ओर तत्कालीन लोक जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

अलंकार— विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, छेकानुप्रास, व्याघात ॥१७॥

अगहन देवस[१] घटा निसि बाढ़ी। दूभर दुख[२] सो[३] जाइ किमि काढ़ी[४] ॥
अब धनि[५] देवस[६] बिरह[७] भा राती। जरै[८] बिरह ज्यों[९] दीपक बाती ॥
काँपा[१०] हिया जनावा[११] सीऊ। तौ[१२] पै जाइ होइ सँग पीऊ ॥
घर घर चीर रचा[१३] सब काहूँ। मोर रूप रंग लैगा[१४] नाहूँ ॥
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहूँ फिरैं फिरैं रँग सोई ॥
सिअरि[१५] अगिनि बिरहैं[१६] हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भा[१७] छारा ॥

यह दुख दगध न जानै कंतू। जोबन जरम[१८] करै भसमंतू।।
पिउ सौं[१९] कहेउ सँदेसरा[२०], हे भँवरा हे काग।
सो धनि बिरहें[२२] जरि गई[२३], तेहिक घुआँ हम[२४] लाग।।१८।।

पाठान्तर—[१] दिवस [२] रैनि [३] × [४] गाढ़ी [५] यहि [६] बिरह [७] दिवस [८] जरौं [९] जस [१०] काँपै [११] जनावै [१२] तो [१३] रचे [१४] लेइगा [१५] बज्र [१६] बिरहिनि [१७] होइ [१८] जनम [१९] सों [२०] सँदेसड़ा [२१] भौंरा[२२] बिरहै [२३] मुई [२४] हम्द।

व्याख्या :—"अगहन के महीने में दिन घट (छोटा हो) गया है और रात बड़ी (लम्बी) हो गई है (प्रिय विरह के कारण मेरा) दुःख कष्ट साध्य होने लगा है कि उस (रात) को कैसे व्यतीत करूँ ? अब विरहिणी (मुझ नागमती) के लिए विरह के कारण दिवस भी रात्रि हो उठी है जिसमें वह उसी प्रकार जल रही है जिस प्रकार दीपक में पड़ी बत्ती जलती है। हृदय में कम्पन हो रहा है जिससे शीत का प्रभाव प्रकट होने लगा है। यह (शीत और हृत्कम्पन) तभी विदा लेंगे जब मेरा प्रिय (पति रत्नसेन) मेरे संग होगा। प्रत्येक घर में स्त्रियों ने अपने वस्त्रादिक रंग लिए हैं किन्तु (मैं क्या रँगू क्योंकि) मेरा रूप-लावण्य तथा रंग (साज श्रृंगार) तो (मेरा) स्वामी ही (अपने साथ) लेकर चला गया है। वह प्रवासी (प्रिय) जब से गया तो पुनः लौट कर वापस नहीं आया, वह यदि अब भी वापस आ जाय तो (मेरा) वही रंग-ढंग वापस आ सकता है। (मुझ नागमती को) अग्नि शीतल लगने लगी है क्योंकि (मेरा) हृदय तो विरह ही जला रहा है और वह (धीरे-धीरे) सुलग-सुलग कर जलने के कारण राख हो रहा है। (मेरा) प्रियतम इस (वियोग जन्य) दुःख-दाह को (संभवतः) नहीं जानता (इसी कारण) मेरे (सुकुमार) यौवन और (सुन्दर) जीवन को भस्मीभूत (हो जाने के लिये विवश) किये दे रहा है। हे भ्रमर! हे काग! प्रियतम (रत्नसेन) से (तुम्हीं जाकर मेरा यह) सन्देश (मुझ पर कृपा कर) कह देना कि (तुम्हारी) वह स्त्री विरह में ही जल (कर मर सी) गई,

उसी का धुँआ हमें लग गया है (जिससे हम दोनों इतने काले हो गये हैं) '' ॥१८॥

टिप्पणी : विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में मार्गशीर्ष मास का वर्णन है।

काढ़ी = कृष्, खींचना, बाहर निकालना। वाती = वर्तिका, बत्ती। जनावा = ज्ञापित होने लगा। रचा = रंजित कर लिया। जरम = जन्म। सँदेसरा = संदेश + डा प्रत्यय (अपभ्रंश)। धुँआं = धूम।

अलंकार—छेकानुप्रास, उपमा, वीप्सा, विरोधाभास, अतिशयोक्ति ॥१८॥

पूस जाड़ थर-थर तन काँपा। सुरुज जड़ाइ[1] लंक[2] दिसि तापा[3] ॥
बिरहँ बाढ़ि[4] भा[5] दारुन[6] सीऊ। कँपि कँपि मरौं लेहि[7] हरि जीऊ ॥
कंत कहाँ हौं[8] लागौं[9] हिअरें। पंथ अपार सूझ नहिं निअरें ॥
सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी ॥
चकई निसी बिछुरै दिन मिला। हौं निसि[10] बासर[11] बिरह कोकिला ॥
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी। कैसें जिऔं[12] बिछोही पँखी ॥
बिरह सचान भँवै[13] तन चाड़ा[14]। जीअत[15] खाइ मुएँ[16] नहिं[17] छाँड़ा ॥

रकत ढरा[18] माँसू गरा, हाड़ भए[19] सब संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, आइ[20] समेटहु पंख ॥१९॥

पाठान्तर—[1]जाइ [2]लंका [3]चाँपा [4]बाढ़ [5]दारुन [6]भा [7]लेइ [8]लागौं [9]ओहि [10]दिन [11]राति [12]जियैं [13]भएउ [14]जाड़ा [15]जियत [16]औ मुए [17]न [18]ढुरा [19]भएउ [20]पीउ।

व्याख्या—"(इधर) पूस के महीने में (मुझ विरहिणी नागमती का) शरीर जाड़े से थर-थर काँप रहा है (उधर) शीत के कारण जाड़ा लगने से

सूर्य भी लंका (कटि प्रदेश या दक्षिण दिशा) की ओर जाकर ताप (संताप दे) रहा है। (प्रिय के) विरह बढ़ जाने पर (यह) शीत और भी दारुण हो गया है। (जिस कारण) मैं कांप-कांप कर मर (सी) रही हूँ और (उस पर से शीत और विरह) मेरे जीव को हरे ले रहे हैं। कान्त ! तू कहां (जाकर बसा हुआ) है कि (वहीं आकर) मैं तेरे हृदय से लग जाऊँ (और अपना शीत दूर करूँ)। (प्रियतम तक पहुँचने का) मार्ग अपरम्पार है और मुझे तो निकट की वस्तु भी नहीं सूझती। सफेद चादर से (और जाड़े की ओढ़नी और बिछावन को देख कर ही मुझे) जूड़ी आने लगती है और शैय्या तो मानों हिमालय के बर्फ में डूबी हुई (सी प्रतीत होती) है। चकवी (तक भी) रात्रि में बिछुड़ कर (अपने प्रिय चकवा से) दिन होते ही मिल जाती है किन्तु (एक मैं ही ऐसी विरहिणी हूँ जो) रात-दिन विरह में (प्रिय को रटते-रटते) कोकिला हो रही हूँ। रात में अकेली रहती हूँ, साथ में सखी भी नहीं होती (अथवा हे सखी ! प्रिय का साथ नहीं है) ऐसी स्थिति में मैं कैसे जीऊँ ? जब कि मेरी जोड़ी का पक्षी मुझसे बिछुड़ गया है। (जाड़े के दिनों में) विरह रूपी सचान (बाज) चक्कर लगाता रहता है और मेरे शरीर को खाता रहता है, जब वह जीती ही मुझे खा रहा है तो मर जाने पर किसी प्रकार भी नहीं छोड़ेगा। (अब तो शरीर का सारा) रक्त बह (कर समाप्त हो) गया, माँस गल गया और हड्डियां (भी) सूख कर शंख (की तरह पोली) हो गईं। विरहिणी सारस की तरह (अपनी जोड़ी को) रटते-रटते मर (सी) गई (हे कान्त !) भला अब तो आकर उसके पंखों को समेट लो" ॥१६॥

टिप्पणी—विप्रलम्भ श्रृंगार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में पौष मास का वर्णन है।

लंक = लंका, कटि प्रदेश। हिवंचल = हिमाचल। चकई = चक्रवाकी। सचान = बाज विशेष। चाड़ा = खाना। रकत = रक्त। हाड़ = अस्थि। ररि = रट कर।

अलंकार—श्लेष, छेकानुप्रास, वीप्सा, उत्प्रेक्षा, रूपक ॥१६॥

लागेउ माँह[1] परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़ काला॥
पहल पहल तन रुई जो[2] झाँपै। हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै॥
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ। तेहि[3] बिनु जाड़ न छूटै माहाँ॥
एहि मास[4] उपजै रस मूलू। तूँ सो भँवर[5] मोर जोबन फूलू॥
नैंन चुवहिं जस माँहुट[6] नीरू। तेहि[7] जल[8] आगि[9] लाग सर चीरू॥
टूटहिं[10] बुंद[11] परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारैं झोला॥
केहिक सिंगार को पहिर[12] पटोरा। गियँ[13] नहिं[14] हार रही होइ डोरा॥

तुम्ह[15] बिनु कंता[16] धनि हरुई[17], तन तिनुबर[18] भा डोल।
तेंहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल॥२०॥

पाठान्तर—[1]माघ [2]× [3]तोहि [4]माह [5]भौंर [6]महवट [7]तोहि [8]बिनु [9]अंग [10]टप-टप [11]बूँद [12]पहिरु [13]गिउ [14]न [15]तुम [16]कांपै [17]हिया [18]तिनउर।

व्याख्या—"माघ का महीना लगते ही अब पाला (भी) पड़ने लगा है। शीतकाल में विरह (मुझ नागमती को) काल (के समान कष्ट प्रद) हो उठा है। (विरहिणी) शरीर के अंग-प्रत्यङ्गों को जैसे-जैसे रूई की परतों से ढँकती है, वैसे-वैसे उसका हृदय हहर-हहर कर (और भी) अधिक काँप उठता है। रे (निष्ठुर) स्वामी! आकर सूर्य की भांति तप (और मुझे भी उष्णता प्रदान कर) क्योंकि उस (तेरे आलिंगन) के बिना माघ मास में जाड़ा नहीं छूट सकता। इसी महीने में (तो) रस के मूल (काम) की उत्पत्ति होती है, जो (वसंत काल में वनस्पतियों पर) फूलों के माध्यम से प्रकट होता है, मेरे यौवन रूपी पुष्प (का उपभोक्ता) तू (रतनसेन) वही भ्रमर है। (तेरे वियोग में) माघ मास की वृष्टि की भांति मेरे नेत्रों से अश्रु जल प्रवाहित हो रहा है जिस कारण जल अग्नि (की भांति दाहक) और चीर बाण (की तरह कष्ट दायक) हो रहे हैं।

(माघ की) बूँदें (मेरे) शरीर पर गिरकर ओले के समान पड़ती हैं और विरह (के कारण) पवन भी उन्हें झँकोरे देता है । किस (विरहिणी) का शृंगार (बचे) और कौन (इस काल में) पटोरा पहने ? गले में हार नहीं रहा क्योंकि (मैं नागमती विरह से क्षीण होकर) स्वतः (उस हार के) धागे सी हो रही हूँ । हे प्रिय ! तुम्हारे बिना यह विरहिणी इतनी (क्षीण होने के कारण) हल्की हो गई है । कि उसका शरीर तृण की भाँति डोलता रहता है । उस पर भी (निर्दयी) विरह जला कर उसे राख कर उड़ा देना चाहता है (क्या मरण पश्चात् मेरे शरीर की राख बुझाने का ही निश्चय कर रखा है ?)" ।।२०।।

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में माघ मास का वर्णन है ।

पाला = देखिए छंद सं० ६/१ । पहल पहल = प्रहर प्रहर । झाँपै = आच्छादित करना, ढँकना । हहरि-हहरि = देखिए छंद सं० ११/४ और टिप्पणी । आइ = आगम्य; आकर । माहाँ, माँह = माघ । महुँवट = माघ वृष्टि । सर = शर, बाण । झोला = झँकोरा; झोंका । गियँ = ग्रीवा । डोरा = धागा जिसमें फूल या मणियों को पिरोकर माला बनाते हैं । हुरुई = लघु (+ई); हल्की । तिनुवर = तृणवर, तिनका । डोल = दोल, हिलना-डुलना । जराइ = (प्र)ज्वल्य; जला कर । झोल = क्षार, राख ।

अलंकार—यमक, वीप्सा, उपमा, रूपक, अत्युक्ति ।।२०।।

फागुन पवन झँकोरै[1] बहा । चौगुन सीउ जाइ किमि[2] सहा ।।
तन जस पिअर पात भा मोरा । बिरह[3] न[4] रहै[5] पवन[6] होइ[7] झोरा ।।
तरिवर झरै[8] झरैं[9] बन ढाँखा[10] । भइ अनपत्त[11] फूल[12] फर[13] साखा ।।
करिन्ह[14] बनाफति[15] कीन्ह[16] हुलासू । मो कहँ भा जग दून उदासू ।।

फाग करहिं सब चाँचरि जोरी। मोहिं जिअ[17] लाइ दीन्हि[18] जस होरी॥
जौं[19] पै पिअहि[20] जरत अस भावा[21]। जरत मरत मोहिं रोस[22] न आवा॥
रातिहुँ[23] देवस[24] इहै[25] मन[26] मोरें। लागौं[27] कंत[28] छार[29] जेउँ[30] तोरें॥

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाउ[31]।
मकु तेहि मारग होइ[32] परौं[33], कंत धरै जहँ पाउ[34]॥२१॥

पाठान्तर :—[1] झकोरा [2] नहिं [3] तेहि [4] पर [5] बिरह [6] देइ [7] झक [8-9] झरहिं [10] ढाखा [11] ओनंत [12] फूलि [13] फरि [14] करहिं [15] वनसपति [16] हिए [17] तन [18] दीन्ह [19] जो [20] पीउ [21] पावा [22] रोष [23] राति [24] दिवसै [25] बस यह [26] जिउ [27] जगौं [28] निहोर [29] कंत [30] अब [31] उड़ाव [32] उड़ि [33] परै [34] पाव।

व्याख्या :—"फाल्गुन के महीने में पवन झँकोरे के साथ बहने लगा (फलतः) शीत चौगुना (हो उठा) है, उसे कैसे सहन किया जाय? (मुझ नागमती का) शरीर (वृक्षों के) पत्तों की भाँति पीला हो गया है और (अब तो हे प्रिय) विरह में (और भी अधिक दिनों तक) नहीं चल सकेगा क्योंकि विरह का पवन उसे झकझोरे दे रहा है। वृक्षों के पत्ते झड़ (कर गिर) रहे हैं, बन के ढाक (सामान्य वृक्ष भी) झड़ रहे हैं और उनकी फूली-फली शाखाएँ पत्र-विहीन हो रही है (नागमती के सन्दर्भ में विरह के कारण कष्ट और ऊपर से रनिवास में सम्मान को जगह परोक्ष रूप से लोक निन्दा और तिरस्कार का आभास मिलना ध्वन्यर्थ लिया जा सकता है)। (अब) बनस्पतियाँ कलियों के रूप में आनन्दित होने लगी हैं किन्तु मुझे (मेरे लिए) संसार दुगुना उदास (नीरस) हो गया है। (मेरी सभी सखियाँ) चाँचर का आयोजन कर फाग का

उत्सव मना रही है, (और इस प्रकार उन्होंने) मेरे हृदय में (विरहाग्नि की प्रचण्ड) होलिका सी प्रज्वलित कर दी है। (यदि मुझे इसका हल्का सा संकेत भी मिल जाय कि मेरा) इस प्रकार जलना ही प्रियतम को अच्छा लगता है तो (विरहाग्नि में) जलने और मरने में (तनिक भी) रोष (दुःख) न होगा। क्योंकि रात-दिन मेरी तो (एक मात्र) यही मनों-कामना है कि (किसी भी प्रकार) राख की भाँति ही तुझ (अथवा तेरे अंगों) से (आ) लगूँ। (अब तो जी में यही आता है कि अपना) यह (सुकुमार) शरीर (विरहाग्नि में) जला कर भस्म कर दूँ और (विनय पूर्वक पवन से) कहूँ कि हे पवन ! मेरी राख को उड़ा ले जा जिससे कि सम्भवतः (कभी) उस मार्ग पर जा गिरूँ जहाँ (हे) प्रियतम (तू अपना) पैर (ही) रख दे (जिससे मेरे मन की साध पूरी हो सके) ॥ २१ ॥

टिप्पणी—विलम्भ शृङ्गार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में फाल्गुन मास का वर्णन है।

चौगुन = चतुर्गुणित, चार गुना। पिअर = पीत। ढाँखा = ढाक। अनपत्त = अपत्र, पत्रविहीन, अप्रतिष्ठित। बनाफति = वनस्पति। हुलासू = उल्लास। दून = द्विगुणित, दो गुना। फाग = बसन्त ऋतु का उत्सव विशेष। चांचरि = देखिये छन्द सं० ४/३; संयोग और वियोग इन दो मनःस्थितियों में प्रकृति का दो रूप। मकु लोक = भाषा का शब्द 'जिससे कि' (अर्थवाची है)। नागमती को विरह जन्य अभिलाषा को इस शब्द के प्रसंगोचित प्रयोग ने और भी अधिक मार्मिक व्यंजना प्रदान कर दी है। रोष = आपत्ति या शिकायत के अर्थों में। जौं पै पिअहिं = भाव साम्य देखिए रत्नाकर कृत उद्धव-शतक में—'सहिहैं तिहारे कहैं सांसति सबै पै बस, एती कहे देहु कै कन्हैया मिलि जाइगो' ॥ (—पृ० सं० ७०)

अलंकार—छेकानुप्रास, विशेषोक्ति, श्लेष ॥२१॥

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखें संसार उजारी॥
पंचम बिरह पंचसर मारै। रकत रोइ सगरौ बन ढारै॥
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीजि मंजीठ टेसू[1] बन राता॥
मौरें[2] आँब[3] फरै अब लागे। अबहुँ सँवरि[4] घर[5] आउ[6] सभागे॥
सहस भाउ[7] फूली बनफती[8]। मधुकर फिरै[9] सँवरि मालती॥
मो कहँ फूल भए जस[10] काँटे। दिस्टि परत तन[11] लागहिं चाँटे॥
भर जोबन एहु[12] नारँग साखा। सोआ [13] बिरह अब जाइ न राखा॥

घिरिनि परेवा आव [14] जस[15] आइ[16] परहु[17] पिअ[18] टूटि।
नारि पराएँ हाँथ है, तुम्ह[19] बिनु पाव न छूटि॥२२॥

पाठान्तर—[1]टेसु [2]बौरे [3]आम [4]आउ [5]घर [6]कंत [7]भाव [8]बनस्पती [9]घूमहिं [10]सब [11]जस [12]भए [13]सुआ [14]होइ [15]पिउ [16]आउ [17]बेगि [18]परु [19]तोहि।

व्याख्या—"चैत में बासन्ती धमार होती है किन्तु मेरी दृष्टि में सारा संसार उजड़ चुका है (वीरान जैसा प्रतीत होता है)। कोकिला के पंचम स्वर में (मानो) कामदेव विरह का पंचम बाण चला रहा है, जिस कारण समस्त वन-प्रान्त रो-रो कर रक्त (के आँसू) बहा रहा है जिसमें सभी वृक्षों के पत्ते डूब उठे हैं और उसी में भींग कर वन के मंजिष्ठ और किंशुक रक्तवर्ण के हो गए हैं। मुकुलित (जिनमें बौर लग गए हों ऐसे) आम्र-वृक्षों में अब फल लगने लगे, अब भी (मेरा) स्मरण कर हे भाग्यशाली कान्त ! घर (वापस) आ जा। वनस्पतियाँ सहस्रधा फूल उठी हैं, भ्रमर (तक) मालती का स्मरण कर लौट पड़े हैं (किन्तु तेरे आने का कोई संकेत तक नहीं इसीलिए) फूल मुझे कांटों की तरह लग रहे हैं और दृष्टि पड़ते ही शरीर में चींटे बनकर (काटने) लगते हैं। नारंगी की यह शाखा (भी) भरे यौवन में (आ गई) है (बसन्त

रूपी युवावस्था में शाखा रूपी शरीर पर उरोजों के नारंगी फल पूर्ण विकास पर हैं ऐसी स्थिति में) सोया हुआ (अथवा सुआ रूपी) विरह अब नहीं रोका जा रहा है (या विरह का सुआ उरोजों के नारंगी फलों को क्षत-विक्षत करने को तैयार है, उसे रोकने में मैं असमर्थ हूँ) इसलिए जिस प्रकार गिरहबाज कबूतर (अपने लक्ष्य-पक्षी पर आकाश से टूटकर) आ जाता है उसी प्रकार हे प्रियतम ! तुम भी टूटकर आ पड़ो (क्योंकि यह नागमती) विरहिणी परवश हो रही है और तुम्हारे बिना (उससे) छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकेगी" ।।२२।।

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृङ्गार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में चैत्र मास का वर्णन है ।

धमारी=धमार, वसन्त ऋतु का एक औद्धत्यपूर्ण नृत्य-गीत-परक उत्सव । पंचम=कोकिला का स्वर, कामदेव का बाण विशेष । पंचसर=मोहन, उन्मादन, तापन, शोषण और द्रोषण अथवा अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलोत्पल इन पाँच बाणों का अधिष्ठाता देवता, कामदेव । सगरौ=सकल, सम्पूर्ण । मंजीठ=मंजिष्ठ, लाल । टेसू=किंशुक । सँवरि=स्मरि, याद कर । दिस्टि=दृष्टि । चाँटि=चींटे । नारंग=फल विशेष और उरोज । सोआ=सुतः । राखा=रक्षित किया जाना । घिरिन परेवा=घूर्ण पारावत, गिरहबाज कबूतर । छूटि =मुक्ति ।

अलंकार—छेकानुप्रास, उपमा, पर्यायोक्ति ।।२२।।

भा बैसाख तपनि अति लागी । चोला[1] चीर चँदन भौ[2] आगी ।।
सूरुज जरत हिवंचल ताका । बिरह बजागि सौंहँ रथ हाँका ।।
जरत बजागिनि होउ[3] पिउ छाँहाँ । आइ बुझाउ[4] अँगारन्ह माँहाँ ।।
तोहिं दरसन होइ सीतल नारी । आइ आगि सों[5] करु फुलवारी ।।

लागिउँ जरै जरै जस भारू। बहुरि[६] जो[७] भूँजसि[८] तजौं[९] न बारू॥
सरवर हिया घटत नित जाई। टूक टूक होइ होइ[१०] बिहराई॥
बिहरत हिया करहु पिअ टेका। दिस्टि[११] दवँगरा मेरवहु एका॥
कँवल जो बिगसा मानसर, छारहिं[१२] मिलै[१३] सुखाइ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जौं पिअ[१४] सींचहु[१५] आइ॥२३॥

पाठान्तर—[१]चोआ [२]भा [३]करु [४]दुआउ [५]तें [६]फिरि [७]फिरि [८]भूजिसि [९]तजेउँ [१०]कै [११]दीठि [१२]बिनु जल [१३]गएउं [१४]पिउ [१५]सीचै।

व्याख्या—"वैशाख का महीना आ गया और ऊष्मा भी अधिक बढ़ गई, (और इधर विरह के कारण मेरा) चन्दनी चीर का चोला आग (जैसा दाहक) हो गया है। जलता हुआ सूर्य (शीतल होने के लिए) हिमाचल (की ओर बढ़ने का मार्ग) देख रहा था (किन्तु वहाँ तो न गया) अपितु विरह की वज्राग्नि का अपना रथ उसने मेरे ही सम्मुख हांक दिया (जिसमें मैं भस्म हुई जा रही हूँ इसलिए) हे प्रियतम ! विरह की वज्राग्नि में जलती हुई (मुझ नागमती) के लिये छाया (सदृश) बन और आकर अंगारों में (जलती हुई) मुझे बुझा (शीतलता प्रदान कर)। तेरे दर्शन से (ही) यह स्त्री (नाड़ी) शीतल होगी (इसलिए) आकर (मेरे जीवन में) अग्नि के स्थान पर फुलवारी (का निर्माण) कर। (अब तो) मैं (इस विरहाग्नि में) उसी प्रकार जलने लगी हूँ जैसे भाड़ जलता (धिकता) है किन्तु यदि तुम (आने के बाद) भूनो भी तो मैं (तुम्हारा) द्वार नहीं छोड़ सकती (जैसे भाड़ बालू को नहीं छोड़ता)। मेरा हृदय रूपी सरोवर (प्रेममय जीवन के अभाव में) नित्य प्रति घटता ही जा रहा है और (जैसे पानी सूख जाने पर दरारें पड़ जाती हैं उसी प्रकार) टुकड़े-टुकड़े होकर विदीर्ण हो रहा है। हे (निर्मोही) प्रिय ! अपने (सजल) दृष्टि की दवँगरा (आषाढ़ की प्रथम झड़ी) से फटते हुए हृदय को अवलम्ब प्रदान कर और एक में मिला दे (जिस प्रकार वर्षा की पहिली फुहार सरोवर की दरारों को जोड़

कर एक कर देती है)। (हृदय रूपी) मानसरोवर में जो (प्रेम रूपी) कमल खिला था वह (विरहाग्नि में) सूखकर धूल में मिल रहा है, फिर से वह बेल अब भी पलुह (हरी-भरी और खिल) सकती है यदि हे प्रिय! तुम आकर (अपने दर्शन रूपी जल से) सींच दो" ॥२३॥

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृङ्गार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' वर्णन प्रकरण में वैशाख मास का वर्णन है।

तपनि = ऊष्मा या गर्मी। बजागि = वज्राग्नि; प्रचण्ड अग्नि। सौंह = सम्मुख। छाँहा = छाया। करु = कुरु; करो। फुलवारी = पुष्प या प्रफुल्ल वाटिका। बहरि = बहुः + अपि, बहुरपि; पुनः पुनः। बारू = बालुका और द्वार। सरवर = सरोवर। बिहराई = विदीर्ण होना। दवँगरा = आषाढ़ मास का प्रथम जल, (लोक भाषा का शब्द)।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, अत्युक्ति, वीप्सा, दृष्टान्त, श्लेष, रूपक ॥२३॥

जेठ जरै जग बहै[1] लुआरा। उठै[2] बवंडर धिकै[3] पहारा ॥
बिरह गाजि हनिवँत[4] होइ जागा। लंका डाह[5] करै तन लागा ॥
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि[6] पलंका लागी ॥
दहि भइ स्याम[7] नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि[8] मंदी ॥
उठै आगि औ आवै आँधी। नैंन न सूझ मरौं दुख बाँधी ॥
अधजर भई माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग[9] होइ भूखा ॥
माँसु खाइ अब हाँड़न्ह लागै। अबहूँ[10] आउ आवत सुनि भागै ॥
परबत[11] समुँद[12] मेघ[13] ससि[14] दिनअर[15], सहि न सकहिं यह[16] आगि।
मुहमद सती सराहिऔ[17], जरै जो अस पिअ[18] लागि ॥२४॥

पाठान्तर—[1]चलै [2]उठहिं [3]परहिं [4]हनुवँत [5]दाह [6]दाहि [7]साम [8]अति [9]काल [10]अबहूँ [11]गिरि [12]समुद्र [13]ससि [14]मेघ [15]रवि [16]वह [17]सराहिए [18]पिउ।

व्याख्या—"जेठ के महीने में (सारा) संसार (उसकी ऊष्मा में) जलने लगा, (चारों ओर) लू बहने लगी, बवण्डर (गर्म हवा के बगूले) उठने लगे (और जिसमें विशालकाय चट्टानी) पहाड़ (तक) दहकने लगे। (ऐसे समय में) विरह हनुमन्त की भाँति (गंभीर) गर्जना कर (मुझ विरहिणी नागमती के) शरीर रूपी लंका का दाह करने लगा है। चारों (दिशाओं के) वायु (अपने वेग से प्रवाहित होकर उस) विरहाग्नि को (और भी अधिक) प्रज्वलित करने लगे हैं (फलतः वह अग्नि) लंका को जलाकर (अब) पलंका (नामक द्वीप जो लंका से कुछ दूर पर स्थित था) तक जा पहुँची है। विरह की अग्नि मन्दी आँच की तरह दुःसह होती है, (जिसमें) जलकर (यह विरहिणी नागमती) यमुना नदी की भाँति श्यामवर्णा हो चुकी है। (इस महीने में चारों ओर) आग (सी) उठ रही है और आँधी चल रही है, (ऊपर से अपने विरह के) दुःख को बाँध (अपने में ही समेट) कर मैं मर (सी) रही हूँ (जिससे बचने का कोई भी मार्ग) आँखों को नहीं सूझ रहा है (अर्थात् दुःखातिरेक से आँखों के सामने अँधेरा छा गया है)। मैं (विरह की धीमी-धीमी आँच में जलकर) अधजली हो गई, शरीर का माँस (भी) सूख चला (और) विरह भूखे काग की भाँति (उसे खाने में) लग गया है। माँस खाकर (वह शरीर की) हड्डियों (के खाने) में लगना (ही) चाहता है। (निर्मोही) प्रियतम ! अभी भी (समय है इसलिए) आ जा (जिससे) तुझे आता हुआ सुनकर (वह) भाग जाय (संभवतः प्रिय के आगमन की बात कौए को पहले ही मालूम हो जाती है, इसी अन्धविश्वास के कारण स्त्रियाँ अपनी अटारी पर बैठे काग को उसका नाम ले-लेकर सुनाती रही हैं)।" पर्वत, समुद्र, मेघ, चन्द्रमा और सूर्य (भी जिनमें अपरिमित तेज-पुञ्ज समाहित रहता है, तक) इस (विरह की) अग्नि को सहन नहीं कर सकते हैं (इसीलिए) मुहम्मद (कवि जायसी कहता है कि) सती—(नागमती के प्रेम) की प्रशंसा करनी चाहिए जो (अपने) प्रिय (रत्नसेन) के लिए इस प्रकार जलती है (अथवा रत्नसेन ऐसे निर्मोही प्रियतम की उपेक्षा करने पर भी उसी के विरह में जलती है)" ॥२४॥

टिप्पणी—विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत 'बारह मासा' वर्णन प्रकरण में ज्येष्ठ मास का वर्णन है।

लुआरा = लोक भाषा का शब्द; जेठ में चलने वाली गर्म हवा का झोंका। हनिवत = हनूमन्त; हनूमान। डाह = दग्ध। पलंका = द्वीप विशेष या पर्यङ्क। मंदी = लोक भाषा का शब्द; धीमी-धीमी आँच में सुलगने वाली। भूखा = बुभुक्षित। दिनअर = दिनकर; सूर्य।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, उपमा, श्लेष ॥२४॥

तपै लाग[१] अब जेठ असाढ़ी। भै[२] मो[३] कहुँ[४] यह[५] छाजनि[६] गाढ़ी ॥
तन तिनुबर[७] भा झूरौं खरी। भै[८] बिरहा[९] आगरि[१०] सिर[११] परी ॥
साँठ[१२] नाहिं[१३] लगि[१४] बात को पूँछा। बिनु जिअ[१५] भएउ[१६] मूँज तन छूँछा ॥
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बाक[१७] न आव कहौं केहि[१८] रोई ॥
ररि[१९] दूबरि[२०] भइ[२१] टेक बिहूनी। थंभ[२२] नाहिं उठि सकै न थूनी ॥
बरिसहिं[२३] नैंन[२४] चुवहिं घर[२५] माहाँ[२६]। छप्पर छपर होइ[२७] बिनु छाँहाँ[२८] ॥
कोरे[२९] कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह[३०] बिनु कंत न छाजन[३१] छाजा ॥
अबहूँ दिस्टि[३२] मया[३३] करु[३४], छान्हिन[३५] तजु[३६] घर आउ।
मँदिर उजार क[३७] होत है, नव कै आनि[३८] बसाउ ॥२५॥

पाठान्तर :—[१]लागि [२]मोहि [३]पिउ [४]बिनु [५]छाजनि [६]भइ [७]तिनउर [८]भइ [९]बरखा [१०]दुख [११]आगरि [१२]साँठि [१३]नाठि [१४]जग [१५]जिउ [१६]फिरै [१७]बात [१८]का [१९]भई [२०]दुहेली [२१]× [२२]थाँम [२३]बरसे [२४]मेह [२५]× [२६]नैनाहा [२७]होइ रहि [२८]नाहा [२९]कोरौं [३०]तुम [३१]छाजनि [३२]मया [३३]दिस्टि [३४]करि [३५]नाह [३६]निठुर [३७]× [३८]आइ।

(I) पंक्ति सं० ३ और ४ का पाठ क्रमशः ४ और ३ के क्रम से है।

व्याख्या—क) नायिका-परक अर्थ :—"जेठ-असाढ़ी (जेठ के अन्त और आषाढ़ मास के प्रारम्भ की गर्मी के दिन) की तपन (भी) अब प्रारम्भ हो गई है। मेरे लिए यह तपन (कष्ट प्रद) असह्य छाजन (रोग विशेष के सदृश) हो रही है। (मेरा) शरीर (तो विरहाग्नि में) सूखकर तृण (वत्) हो गया है और (मैं) अत्यधिक संतप्त हो रही हूँ। (प्रिय का) विरह तेज-पुञ्ज हो कर सिर पर (ऊपर आ) पड़ा है। (शरीर की यह) पूँजी (भी मेरे हाथ से निकली जा रही है) नहीं (ऐसी विपन्न-स्थिति में) अब मेरी बात ही कौन पूछेगा ? (वियोग के कारण) निर्जीव (सा हुआ) मेरा (शक्ति और चेतना से) खाली शरीर (ऐंठकर) मूँज (की रस्सी के समान) हो उठा है। न कोई मेरा (स्वजन) बन्धु (ही) है और न कोई (इस विपत्ति में) कन्धा देने वाला (सहारा देने वाला) ही। (मुख से) शब्द (वाक्य बाहर) आते ही नहीं (फिर) रोकर किससे (और क्या) कहूँ ? विरहिणी (यह नागमती) आश्रय के लिए रट-रट कर (अत्यन्त) क्षीणकाय हो गई है (क्योंकि) अवलम्ब (स्तम्भ) के अभाव में स्थूण (ठूँठ सा हुआ यह शरीर अब और अधिक) नहीं उठ (स्थिर और उन्नत रह) सकता है। नेत्र (अनवरत आँसुओं को) बरसाते हैं (जिनकी बूँदें मेरे इस काया रूपी) घर में चू रही हैं और (किसी भी आच्छदन की) छाया न होने के कारण छपर-छपर (सी) हो रही है। अरे (प्रवासी ! अब मेरा तेरे बिना) कौन है और कहाँ है जो (मेरी काया-छाजन का) नवीकरण कर दे ? (अथवा हे प्रिय ! तू कितना निष्ठुर है ? और कहाँ जाकर तूने अपना घर बसा लिया है ?) क्योंकि हे कान्त ! तुम्हारे बिना (अब) यह (काया रूपी) आच्छादन शोभित नहीं हो रही है। (इसलिए) अब तो कृपा दृष्टि कर। (प्रेमकी क्षणिक) छाया का परित्याग कर (अपने) घर को लौट आ। (यह तेरा और मेरा) घर (तेरे न रहने के कारण) उजाड़ हो रहा है, तू (या तो स्वयं) आकर नया बसा दे अथवा उस नवोढ़ा (पद्मावती जिससे तू प्रेम करता है) को भी (अपने साथ) ले आकर (इस उजड़ते हुए घर को) बसा दे (इसमें भी मुझे कोई आपत्ति न होगी)।"

(ख) छप्पर-परक अर्थ :—

"जेठ-असाढ़ी की तपन अब प्रारम्भ हो गई है। मेरे लिए (अपने घर की जीर्ण-शीर्ण यह छाजन (छप्पर) कष्टदायक हो रही है। इसका तनाव (काल के प्रभाव से) तिनके-तिनके हो गया है (जिस कारण) मैं अत्यधिक संतप्त हो रही हूँ। इसको अर्गला (छाजन की बल्ली लटक कर) सिर पर (आ) गिरी है। जब संठा (सन का डंठल) ही नहीं लगा तो वत्ते की कौन कहे ? (पुरानी पड़ जाने के कारण) बिना ज्या (ऐंठन) के मूँज का तनाव (या बन्धन) भी ढीला पड़ गया है। बन्धन (रस्सी) नहीं (जिससे बँड़ेर ही बाँध दी जाती) और कोई स्कंध (आश्रय के लिए दीवार) भी नहीं रही और न बाँक (बँड़ेर के नीचे लगाए जाने वाले बाँस) ही (शेष रह गए) हैं। (अपनी विपन्नावस्था को) किससे (और किस प्रकार) रोकर व्यक्त करूँ ? (कुछ समझ में नहीं आता)। सहारे (टेक) के बिना खिसक कर यह छाजन कमजोर हो गई है (अथवा खिसक कर यह कमजोर छाजन टेक विहीन हो गई है)। स्तंभ (भी कोई) नहीं रहे कि वह (पुनः) ऊपर उठाई जा सके और न ही (सहारे के लिए कोई) थूनी (लगाई जा सकती) है। (ऐसी स्थिति में इसके छिद्र रूपी) नेत्र बरसते हैं और घर में टपक रहे हैं। छायाविहीन होकर (यह) छप्पर छः पैरों वाला (चारों ओर से खुला हुआ फलतः असुरक्षित) हो रहा है। कोरे (बाँस) कहाँ हैं जिनसे नई ठटिया सजा (कर इस पर डाल) दी जाय। हे कान्त ! तुम्हारे बिना (मुझ अकेली से यह) छाजन नहीं छाई जा सकती (इसलिए) अब भी कृपा दृष्टि कर और (अन्य) छावनियों (अस्थायी निवास अथवा विदेश) को छोड़ कर (अपने) घर (स्थायी निवास अथवा स्वदेश) लौटा आ। यह (बसा बसाया) घर उजाड़ (विनष्ट) हो रहा है इसलिए तू (या तो स्वयं) आकर नया बसा दे अथवा (उपयुक्त सा-ग्री आदि) ले आकर नए ढंग से बसा दे" ॥ २५ ॥

टिप्पणी :—विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत ज्येष्ठ का उत्तरार्द्ध और आषाढ़ का पूर्वार्द्ध—जेठ-असाढ़ी मास के वर्णन से 'बारह मासा' वर्णन प्रकरण समाप्त होता है।

छाजनि = छादन; छाजन रोग और आच्छादन, छप्पर।

आगरि = कोष और अर्गला। सिर परी = सिर के ऊपर लटक आना, सिर पड़ना मुहावरा। साँठि = संठा और पूँजी बात = वार्ता, कुशल क्षेम और संठे का बत्ता। जिग्र = जीव और ऐंठन। छूंछा = निरर्थक और खाली। बन्ध = स्वजन बन्धु और बन्धन। कन्ध = आश्रय और स्कंध। बाक = वाक्य और वक्र (बीम की तरह लगाई जाने वाली लकड़ियाँ) ररि = रट कर और अररा कर। दूबरि = क्षीण और कमजोर। टेक = अवलम्ब और बंड़ेर के नीचे की लड़की। थंभ = आश्रय और स्तम्भ, खम्भा। थूनी = स्थूण, ठूंठ (शरीर) और थूनी के रूप में प्रयुक्त लकड़ी। नयन = नेत्र और छिद्र। छप्पर छपर = छप-छप (अनुरणनात्मक नाद सौन्दर्य) और छ पैरों का छप्पर। कोरे = कौन तू है और बंड़ेर से ओरौती की ओर आने वाला बाँस। छाजा = शोभित होना और छाया जाना। छान्हिन = बन्धन और छावनी। आनि = आकर और लाकर। नव = नया और नवोढ़ा।

अलंकार— छेकानुप्रास, अन्त्यानुप्रास और श्लेष ।। २५ ।।

रोइ गँवाएउ[1] बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा ।।
तिल तिल बरिस[2] बरिस[3] बरु[4] जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई[5] ।।
सो न[6] आउ[7] पिउ[8] रूप मुरारी। जासों पाव सोहाग सो[9] नारी ।।
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौनु[10] सो घरी करै पिउ फेरा ।।
दहि कोइल[11] भै[12] कंत सनेहा। तोला माँस रहा[13] नहिं देहा ।।
रकत न रहा बिरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्हि ढरा ।।
पाव[14] लागि चेरी[15] धनि हाहा[16]। चूरा[17] नेहु जोरु[18] रे[19] नाहा[20] ।।

बरिस[२१] देवस[२२] धनि रोइ कै, हारि परी चित झाँखि[२३] ।
मानुस घर घर पूँछि[२४] कै, पूँछै[२५] निसरी पाँखि[२६] ॥२६॥

पाठान्तर :—[१]गँवाए[२]-[३]बरख [४]परि[५] सेराई [६]नहि [७]आवै[८] X [९]सु [१०]कौनि [११]कोइला [१२]भइ [१३]रही [१४]पाय [१५]जोरै [१६]हाथा [१७]जारा [१८]जुड़ावहु[१९] X [२०]नाथा [२१]बरस [२२]दिवस [२३]झंखि [२४]बूझि [२५]बूझै [२६]पंखि ।

व्याख्या :—(इस प्रकार नागमती ने प्रियतम रत्नसेन के वियोग में) रो रोकर (पूरे) बारहों महीने व्यतीत कर दिया प्रत्येक साँस में उसने हजार-हजार दुःख (सहे , एक-एक पल (उसके लिए) एक-एक वर्ष (की भाँति अथवा उस) से भी अधिक असह्य होकर बीतता था और एक-एक प्रहर (का समय तो) एक-एक युग में भी कटता ही न था, किन्तु सौन्दर्य में कृष्ण (की भाँति उसका) वह प्रियतम (रत्नसेन) नहीं आया जिससे वह बाला (विरहिणी नागमती) सौभाग्य पाती (अथवा जिससे स्त्री रूपी सोने में पति रूपी रूपा या चाँदी के संयोग के कारण शोधन के लिए वह सुनारिन सोहागा पाती) । संध्या होने पर (प्रति दिन वह दुःखों से और भी) संतप्त होकर (उसका) बाट देखती (और अन्त में निराश होकर कहती कि-) "वह कौन सी (सुन्दर) घड़ी आएगी (जब) प्रियतम, (तू) लौटेगा ? (मैं तो तेरे) एकान्त प्रेम (की अग्नि) में जल (जल) कर कोकिला (के सदृश काली) हो गई हूँ (अब तो मेरे) शरीर में तोला भर भी माँस शेष नहीं रहा, विरह ने शरीर को इतना गला दिया कि (एक बूँद भी) रक्त (अवशिष्ट) न रहा, वह (घुँघुचियों की) रत्ती-रत्ती (रक्तवर्ण अश्रु विन्दु) होकर नेत्रों (के मार्ग) से ढुलक गया । यह विरहिणी (नागमती तेरे प्रेम की) चेरी (दासी) तेरे पैरों पड़ (अनुनय-विनय) कर (वियोग के विषम ज्वर में भस्मसात् हुई) हा-हाकार (तेरी दुहाई) करती (हुई कहती) है कि हे त्राण नाथ ! (अब तो अपने) प्रेम (के सुदर्शन) चूर्ण से (विनष्ट होती हुई इस विरहिणी के टूटते हुए हृदय को) जोड़ (अथवा मेरा चूर्ण किया हुआ स्नेह जोड़) ।"

इस प्रकार वर्ष (के प्रारम्भ होने से पूर्ण होने के) दिवस तक रो-रोकर (विरहिणी नागमती) बाला संतप्त-हृदया हुई (अपने मन की सभी आशाओं को निराशा में परिवर्तित हुआ देख कर जब) हार गई (तब) घर-घर मनुष्यों से पूँछ कर (वन्य) पक्षियों से (अपने प्रिय का अभिज्ञात) पूँछने निकल पड़ी ।। २६ ।।

टिप्पणी :—साँसा=श्वास, साँस । पहर=प्रहर । सो न=वह नहीं और सोन-स्वर्ण । रूप=रूप सौन्दर्य और चाँदी । सोहाग =सौभाग्य और सोहागा, देखिए छंद सं० ८/२ । सो नारी =वह विरहिणी और सुनारिन (स्वर्णकार की स्त्री) । घरी=घड़ी या समय और घटिका (छोटा पात्र विशेष जिसमें स्वर्णकार सोने को गलाता है) । फेरा=वापस लौटना और फेरना । कोइल=कोकिला और कोकिलवर्णी अर्थात् कोयला सी काली । तोला=तुलना में रंच मात्र और तोला (तौल का बाट) । माँस=माँस और माशा (तौल का बाट) रती=घुँघुची और रत्ती (तौल का बाट) । चूरा= चूर्णित किया और चूड़ा (देखिए छंद सं० १/६ एव टिप्पणी) झाँखि=झंख (लोक भाषा का शब्द), विलाप कर या चिन्ता में दुःखी होकर ।

इस छंद में पंक्ति ३ से ७ तक कवि ने ऐसे शब्दों का सायास प्रयोग किया है जिनसे नायिका (विरहिणी) परक और ध्वनि से सुनारिन परक अर्थ लिया जा सकता है ।

अलंकार—वीप्सा, श्लेष, छेकानुप्रास ।। २६ ।।

भई पुछारि लीन्ह बनवासू । बैरिन सवति दीन्ह चिल्हवाँसू ।।
कै[1] खर बान कसै[2] पिउ[3] लागा । जौं घर[4] आवै अबहूँ[5] कागा ।।
हारिल भई पंथ में[6] सेवा । अब तहँ पठवौं कौनु परेवा ।।
धौरी पंडुक कहु पिअ ठाँऊ[7] । जौं चित रोख न दोसर[8] नाऊँ[9] ।।

जाहि बया गहि[10] पिअ कँठ लवा। करै मेराउ[11] सोइ गौरवा ॥
कोइल भई[12] पुकारत[13] रही। महर पुकारि[14] लेहु[15] रे[16] दही ॥
पिअर[17] तिलोर[18] आव[19] जल हंसा। बिरहा[20] पैठि हिएँ[21] कट नंसा ॥

जेहि पंखो कहँ[22] अढ़वौं[23], कहि[24] सो[25] बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ डहि[26], तरिवर होइ निपात ॥२७॥

पाठान्तर :—[1]होइ [2]बिरह [3]तनु [4]पिउ [5]उड़हि तौ [6]मैं [7]नाऊँ [8]दूसर [9]ठाऊँ [10]होइ [11]मेराव [12]भइउँ [13]पुकारति [14]पुकारे [15-16]लेइ [17]पेड़ [18]तिलोरी [19]औ [20]हिरदय [21]बिरह [22]के [23]निअर होइ [24]कहै [25]× [26]जरि।

व्याख्या—[नागमती-परक अर्थ] (इस प्रकार) पूँछने वाली होकर उसने वनवास लिया (कि पक्षियों से ही प्रवासी प्रिय का कोई समाचार मिल जाय किन्तु वहाँ कोई पक्षी भी नहीं आता क्योंकि) वहाँ (भी) उसकी बैरिन सपत्नी (पद्मावती) ने (पक्षियों को फँसा लेने के निमित्त) चिल्हबाँस (पहिले से ही) लगा रखी है। (नागमती कहती है कि) इस पर भी यदि कोई कौआ अपने नीड़ ओर (बढ़ता) आता है तो प्रिय (भी उसी सौत के कुचक्र में फँसकर अपने बाणों को तीक्ष्ण करके उसकी ओर (मानों) खींचने लगता है [फलतः आता हुआ कौआ भी उसी दिशा को पुनः लौट जाता है जिधर से वह आया हुआ होता है अथवा (प्रथम तो प्रियतम ने कंचन-काया को तपाकर उत्तम बान किया और अब पत्थर की कसौटी पर कस रहा है, तथापि।)] यदि वह अब भी आ जाय तो (का) क्या (गा) बिगड़ा है? (अर्थात् कुछ भी नहीं)। मैं (तेरे) मार्ग का सेवन करती हुई (थककर) हार (सी) गई हूँ, अब वहाँ (जहाँ तू जा बसा है,) किस सन्देश-वाहक को भेजूँ? श्वेत हुई और पाण्डुरोग से ग्रस्त हुई मेरा अब प्रिय ही (एक मात्र) स्थान है (अथवा खोजते-खोजते तो मेरे शरीर में

पाण्डुरता दौड़ गई है अब तो हे प्रिय ! अपना निश्चित स्थान बता दे)। यदि (तेरे) चित में (मेरे प्रति किसी भी प्रकार का) रोष (या असन्तोष भी) है तो भी (मेरे चित्त में तेरे अतिरिक्त किसी) अन्य दूसरे (व्यक्ति) का नाम तक नहीं है। जिसे (अपनी) वाणी से 'प्रिय' इस प्रकार अपने कंठ से ग्रहण किया, वह गौरवपूर्ण (रत्नसेन) तू (पुनः आकर मुझसे) मिलाप कर (अथवा जो सन्देश ले जाकर मेरे प्रिय का कंठ ग्रहण कर वापिस आ मुझसे मिलाप करा दे वही गौरवपूर्ण है)। तुझे पुकारते-पुकारते मैं कोकिला सदृश (कोयले के रंग की) हो रही हूँ, हे स्वामी ! (विरहाग्नि में) दग्ध होती हुई मुझ (नागमती) को (कम से कम एक बार) पुकार तो ले। पियरी (पीली रंगी हुई मांगलिक धोती या ओढ़नी) और तिल्लौरी (तिल युक्त बड़ियाँ जो सुहागिनों को दी जाती हैं) मेरे सामने आती है तो मेरा जी (हंस) जल जाता है (अथवा चंचल हृदय तथा क्षुद्र रति को ही प्राथमिकता देने वाले मेरे जीवन रूपी जल में क्रीड़ा करने वाले हंस रूप हे निष्ठुर प्रिय ! तू वापिस आ जा) क्योंकि हृदय में प्रविष्ट हो कर विरह उसको काट-काट कर विनष्ट किए जा रहा है। अपनी विरह-वार्ता कह कर मैं जिस पक्षी (अपने अनुकूल व्यक्ति) को भी (प्रिय के पास सन्देश ले जाने का कार्य) सौंपती हूँ, वही पक्षी (विरह-वार्ता की आँच में) जल उठता है और वह तल-बर कर (निःसत्व होकर) धराशायी हो जाता है।"

[पक्षी-परक अर्थ—]

वह (नागमती) मयूरनी हुई और उसने बनवास ले लिया। यह उसकी बैरिन सपत्नी चिल्हवाँस (पक्षी विशेष) ने दिया था। (उसने कहा) "खर-बानक (पक्षी के रूप में) करके प्रिय मुझे कसने (सताने) लगा है किन्तु हे काग ! यदि वह अब भी घर आ जाय तो उसकी क्या बिगड़ जाय ? हारिल (पक्षी जिसे मैंने भेजा था वह तो संभवतः) मार्ग में ही रुक गई, इसलिए अब वहाँ किस पारावात (पक्षी) को भेजूँ ? हे धौरी ! हे पंडुक ! तुम्हीं प्रियतम का स्थान कहो। यदि चितरोखा (पक्षी ही) मिल जाय, तो किसी दूसरे (पक्षी) का नाम तक न लूँ ! हे बया (पक्षी) ! तू जा, हे प्रिय लवा (पक्षी) !

यदि तू उसे पकड़ कर मेरे कंठ से उसका मिलाप करा दे तो (तू लवा नहीं) गौरवा है। मैं तो कोकिला होकर उसे पुकारती रही (किन्तु निरर्थक, इसलिए) हे महरि ! (पक्षी) तू ही 'दही'-'दही कह कर उसे पुकार कर ले आ। पीलक, तिलौरी (अथवा हे प्रिय तिलौरी-मैना) और जलहंस (तुम सभी) आओ। हे कठनाशक (पक्षी विशेष कठफोड़वा)। (देखो) मेरे हृदय में विरह प्रविष्ट हो गया है। अपनी विरह-वार्ता का सन्देश कहकर मैं जिस (किसी भी) पक्षी को (प्रिय के पास सन्देश-वाहन का उत्तरदायित्व) सौंपती हूँ, वही पक्षी (उस विरह-सन्देश की आँच में) जल उठता हैं और (जिस) तरुवर (पर वह बैठा हुआ होता है वह) भी पत्र विहीन होकर धराशायी हो जाता है ॥२७॥

टिप्पणी :—विरहिणी नागमती का विरह वर्णन कवि ने ऐसे शिलष्ट शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया है जिससे पक्षियों की एक नामावली भी प्रस्तुत हो उठी है।

पुछारि = पूछने वाली और पिच्छालु (मयूर)। चिल्हवाँसू = छल + पाश; छलने के लिए फन्दा और चील्ह पक्षी विशेष को पकड़ने का पाश कन्दा। खरवान = तीक्ष्ण बाण और खरबानक पक्षी विशेष। कागा = क्या बिगड़ गया है और काक, कौआ। हारिल = पराजिता और पक्षी विशेष। परेवा = सन्देशवाहक और पारावत पक्षी विशेष। धौरी = धवल हुई (रोग विशेष के कारण) और पक्षी विशेष। पंडुक = पांडु रोग ग्रस्ता और पक्षी विशेष। ठाऊँ = स्थान। चित रोख = चित में रोष और चितरोखा पक्षी विशेष। बया = वाक्य या शब्द और पक्षी विशेष। लवा = लगाया और लावा पक्षी विशेष। गौरवा = गौरवान्विता और गौरय्या पक्षी विशेष। कोइल = कोयला सी काली और पक्षी विशेष। महर = स्वामी (देखिए छंद सं० ४६/३) और महरि पक्षी विशेष। दही = दग्ध और दधि। पिअर तिलोर = रति लोलुप प्रिय और पीलक पक्षी, तिलोर पक्षी विशेष। पैठि = प्रविष्ट होकर। कट नंसा = कीर्तन-नाश और कठ-नाशक पक्षी विशेष

नागमती संदेश वर्णन

फिरि फिरि रोइ[1] न[2] कोई[3] डोला। आधी राति[4] बिहंगम बोला॥
तैं[5] फिरि फिरि दाधे[6] सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥
नागमती कारन कै रोई। का सोवै जो कंत बिछोई॥
मन चित हुतें न बिसरै[7] भोरें[8]। नैन कजल चखु[9] रहैं[10] न मोरें[11]॥
कहिसि[12] जात[13] हौं[14] सिंघलदीपा। तेहि[15] सेवाति कहुँ नैना सीपा॥
जोगी होइ निसरा सो नाहू। तब हुत कहा सँदेस न काहू॥
निति[16] पूछौं सब जोगी जंगम। कोइ निजु[17] बात[18] न[19] कहै[20] बिहंगम॥

चारिउ चक्र उजारि[21] भे[22], सकसि[23] सँदेसा टेकु[24]।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहि[25] डँड[26] एकु[27] ॥२६॥

पाठान्तर—[1] रोब [2] कोइ [3] नहिं [4] रात [5] तू [6] दहै [7] उतरै [8] मोरे [9] चुकि [10] रहा [11] मोरे [12] कोइ न [13] जाइ [14] तोहि [15] जेहि [16] तिन [17] न [18] कहै [19] निज [20] बात [21] उजार [22] भये [23] कोइ न [24] टेक [25] सुनहु [26] दाउ [27] एक।

व्याख्या—वह (विरहिणी नागमती) पुनः पुनः (इसी प्रकार घूम घूम कर) रोती रही किन्तु कोई भी (उसके आंसुओं से) द्रवित नहीं हुआ। अर्द्ध रात्रि (की वेला) में एक पक्षी (इस प्रकार) बोल उठा—"तूने बार-बार (घूम घूम कर)

(अनेकशः) सभी पक्षियों को (अपने विरह ताप से) दग्ध कर दिया, (तो बता तुझ पर) कौन सा ऐसा दुःख (आ पड़ा) है ? किस दुःख के कारण तू रात में भी आंख नहीं लगाती है ?" (सहानुभूति पाकर) नागमती (और भी) करुणामय स्वर में रोने लगी (और पुनः किसी प्रकार आंसुओं को रोक बोली—) "जो प्रिय वियुक्ता हो (चुकी हो ऐसी यह नागमती) क्या (किस प्रकार) शयन करे ? (जब) वह मन और चित्त (दोनों ही) से भुलाने पर भी नहीं विस्मृत होता। (निरन्तर रोते रहने के कारण) नेत्रों के जल (अश्रु विन्दु) मेरे चक्षुओं में नहीं रह पाते हैं (अथवा मेरे नेत्रों में कज्जल और दृष्टि दोनों ही नहीं रही) और (कुछ रुक कर पुनः) कहने लगी कि मैं (अब) सिंहल-द्वीप की ओर जा रही हूँ क्योंकि उसी (प्रिय के दर्शन रूप) स्वाती के लिए मेरे नेत्र सीपी (बने हुए) हैं। जब से वह नाथ (गोरखनाथ पंथी) योगी होकर निकला, तब से (आज तक) किसी ने उसका (कोई) संदेश (मुझसे आकर) नहीं कहा। मैं नित्य प्रति सभी योगी-जंगमों (शैव साधु) से (बराबर) पूछती रहती हूँ, किन्तु हे (सहृदय) विहग ! कोई अपनी बात तो कहता ही नहीं (मेरे प्रिय का समाचार कहने की बात तो दूर रही अथवा कोई भी सही बात नहीं बताता)। (मेरी विरह वार्त्ता से संतृप्त होकर पृथ्वी के) चारों चक्र वीरान हो गए, (किन्तु) यदि तू (सुन कर) मेरे संदेश को अवलम्ब देने में समर्थ हो सके तो एक दण्ड तक बैठकर सुन (मैं) अपनी विरह-व्यथा (तुझसे) कहती हूँ" ॥२६॥

टिप्पणी—फिरि फिर = पुनः या घूमकर। डोला = द्रवित हुआ। 'आधी राति' निराशा में आशा का कुछ ऐसा ही भाव देखिए—'दीन्ह मुद्रिका डारि तब' (राम चरित मानस, सुन्दर काण्ड दोहा सं० १२)। लावसि आँखी = आँख लगाना, सोना (मुहावरा)। बिसरैं = विस्मृत होना। कजल = कज्जल (काजल)। चखु = चक्षुरिन्द्रिय, देखने की शक्ति। जोगी = नाथ योगी। जोगी होइ निसरा = देखिए—'निकसा राजा सिंगी पूरी' (पद्मावत, छंद सं० १३४/१)। जंगम = लिंगायत सम्प्रदाय के शैव। निजु = अपनी और सत्य (कन्नड़, दक्षिण भारतीय

नागमती संदेश वर्णन

फिरि फिरि रोइ[1] न[2] कोई[3] डोला । आधी राति[4] बिहंगम बोला ॥
तैं[5] फिरि फिरि दाधे[6] सब पाँखी । केहि दुख रैनि न लावसि आँखी ॥
नागमती कारन कै रोई । का सोवै जो कंत बिछोई ॥
मन चित हुतें न बिसरै[7] भोरैं[8] । नैन कजल चखु[9] रहैं[10] न मोरैं[11] ॥
कहिसि[12] जात[13] हौं[14] सिंघलदीपा । तेहि[15] सेवाति कहुँ नैना सीपा ॥
जोगी होइ निसरा सो नाहू । तब हुत कहा सँदेस न काहू ॥
निति[16] पूछौं सब जोगी जंगम । कोइ निजु[17] बात[18] न[19] कहै[20] बिहंगम ॥

चारिउ चक्र उजारि[21] भे[22], सकसि[23] सँदेसा टेकु[24] ।
कहौं बिरह दुख आपन, बैठि सुनहि[25] डँड[26] एकु[27] ॥२६॥

पाठान्तर— [1] रोब [2] कोइ [3] नहिं [4] रात [5] तू [6] दहै [7] उतरै [8] मोरे [9] चुकि [10] रहा [11] मोरे [12] कोइ न [13] जाइ [14] तोहि [15] जेहि [16] तिन [17] न [18] कहै [19] निज [20] बात [21] उजार [22] भये [23] कोइ न [24] टेक [25] सुनहु [26] दाउ [27] एक ।

व्याख्या— वह (विरहिणी नागमती) पुनः पुनः (इसी प्रकार घूम घूम कर) रोती रही किन्तु कोई भी (उसके आंसुओं से) द्रवित नहीं हुआ । अर्द्ध रात्रि (की वेला) में एक पक्षी (इस प्रकार) बोल उठा—"तूने बार-बार (घूम घूम कर)

(अनेकशः) सभी पक्षियों को (अपने विरह ताप से) दग्ध कर दिया, (तो बता तुझ पर) कौन सा ऐसा दुःख (आ पड़ा) है ? किस दुःख के कारण तू रात में भी आंख नहीं लगाती है ?" (सहानुभूति पाकर) नागमती (और भी) करुणामय स्वर में रोने लगी (और पुनः किसी प्रकार आंसुओं को रोक बोली—) "जो प्रिय वियुक्ता हो (चुकी हो ऐसी यह नागमती) क्या (किस प्रकार) शयन करे ? (जब) वह मन और चित्त (दोनों ही) से भुलाने पर भी नहीं विस्मृत होता। (निरन्तर रोते रहने के कारण) नेत्रों के जल (अश्रु विन्दु) मेरे चक्षुओं में नहीं रह पाते हैं (अथवा मेरे नेत्रों में कज्जल और दृष्टि दोनों ही नहीं रही) और (कुछ रुक कर पुनः) कहने लगी कि मैं (अब) सिंहल-द्वीप की ओर जा रही हूँ क्योंकि उसी (प्रिय के दर्शन रूप) स्वाती के लिए मेरे नेत्र सीपी (बने हुए) हैं। जब से वह नाथ (गोरखनाथ पंथी) योगी होकर निकला, तब से (आज तक) किसी ने उसका (कोई) संदेश (मुझसे आकर) नहीं कहा। मैं नित्य प्रति सभी योगी-जंगमों (शैव साधु) से (बराबर) पूछती रहती हूँ, किन्तु हे (सहृदय) विहग ! कोई अपनी बात तो कहता ही नहीं (मेरे प्रिय का समाचार कहने की बात तो दूर रही अथवा कोई भी सही बात नहीं बताता)। (मेरी विरह वार्त्ता से संतृप्त होकर पृथ्वी के) चारों चक्र वीरान हो गए, (किन्तु) यदि तू (सुन कर) मेरे संदेश को अवलम्ब देने में समर्थ हो सके तो एक दण्ड तक बैठकर सुन (मैं) अपनी विरह-व्यथा (तुझसे) कहती हूँ" ॥२६॥

टिप्पणी—फिरि फिर = पुनः या घूमकर। डोला = द्रवित हुआ। 'आधी राति' निराशा में आशा का कुछ ऐसा ही भाव देखिए—'दीन्ह मुद्रिका डारि तब' (राम चरित मानस, सुन्दर काण्ड दोहा सं० १२)। लावसि आंखी = आँख लगाना, सोना (मुहावरा)। बिसरैं = विस्मृत होना। कजल = कज्जल (काजल)। चखु = चक्षुरिन्द्रिय, देखने की शक्ति। जोगी = नाथ योगी। जोगी होइ निसरा = देखिए—'निकसा राजा सिंगी पूरी' (पद्मावत, छंद सं० १३४/१)। जंगम = लिंगायत सम्प्रदाय के शैव। निजु = अपनी और सत्य (कन्नड़, दक्षिण भारतीय

भाषा; जहाँ आज भी लिंगायत सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्राचुर्य है)। डँड = दण्ड या घड़ी।

अलंकार—वीप्सा, छेकानुप्रास, अत्युक्ति ॥२९॥

तासौं दुख कहिए हो बीरा। जेहि सुनि कै लागै पर पीरा ॥
को होइ भीवँ[1] दंगवै[2] परिगाहा[3]। को सिंघल पहुँचावै चाहा ॥
जहाँ[4] सो[5] कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भै[6] झुरौं[7] बियोगी ॥
ओहूँ[8] सिंगी पूरै[9] गुरु भेंटा। हौं भै[10] भसम न आइ समेटा ॥
कथा जो कहै आइ पिअ[11] केरी। पाँवरि होउँ जनम भरि चेरी ॥
ओहि के गुन सँवरत भै[12] माला। अबहुँ न बहुरा उड़िगा छाला ॥
बिरह करोइ[13] खपर[14] कै हिआ[15]। पवन अधारि[16] रहा[17] होइ[18] जिआ[19] ॥

हाड़ भए झुरि[20] किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै, कहेसु[21] बिथा एहि[22] भाँति ॥३०॥

पाठान्तर—[1]भिउँ [2]अँगवै [3]परदाहा [4]जहँवाँ [5]× [6]भइ [7]भूरि [8]वै [9]पूरी [10]भइ [11]ओहि [12]भइ [13]गुरू [14]खप्पर [15]हीया [16]अधार [17]रहै [18]सो [19]जीया [20]सब [21]कहौं [22]केहि।

व्याख्या :—(नागमती उस शुभचिन्तक पक्षी से बोली—) "हे भाई! उसी के सामने (अपनी) दुःखकथा कहनी चाहिए जिसे सुनने के अनन्तर दूसरे (सुनाने वाले) की पीड़ा (का अनुभव) लग सके। भीम की भाँति कौन दंगवै की सहायता करेगा? कौन सिंहलद्वीप में (जाकर मेरा यह) अभीष्ट (समाचार) पहुँचावेगा? जहाँ (उधर) वह प्रियतम योगी होकर चला गया और (इधर उसके वियोग में) मैं वियोगिनी किंगरी (तांत की बनी हुई सारंगी विशेष) होकर सूख रही हूँ। उसने तो सिंगी (सींग का बना हुआ वाद्य विशेष) बजाकर

गुरु (रूप पद्मावती) से भेंट कर ली (किन्तु इधर) मैं भस्म (सदृश) हो चुकी हूँ (किन्तु फिर भी भस्म मात्र शेष मुझ नागमती को) वह आकर नहीं समेटता। जो भी मेरे प्रिय की कथा (संदेश) आकर कह (भर) दे तो मैं चेरी होकर जीवन पर्यन्त (उसके पैरों की) चरण-पादुका हो जाऊँ। उसी के गुणों का स्मरण करती हुई मैं माला (के गुण-डोरी) सदृश स्वतः हो उठी हूँ और (उसकी खोज में चलते-चलते) यद्यपि मेरी खाल तक उधड़ गई किन्तु (वह छाला-छलिया), मृगछाला पर बैठकर ऐसा उड़ा कि वह अभी तक फिर से वापिस नहीं लौटा। विरह को करोई (नारियल का करवा) और हृदय को खप्पर करके मेरा प्राण (अब वन-) पवन का (एकमात्र) आधारी हो रहा है। (शरीर के एक-एक) हाड़ सूख कर किंगरी (सदृश) हो उठे हैं (जिसमें) नसें (ही) सब तांत (सदृश) हो गई हैं और मेरे शरीर के रोम-रोम से (उसी किंगरी के सदृश) ध्वनि उठ रही है (जिस प्रकार अपनी विरह-व्यथा कहते हुए मेरी शारीरिक और मानसिक स्थिति हो रही है हे विहंगम !) इसी प्रकार (भाव विह्वल होकर) मेरी विरह-व्यथा (की कथा जो मैं तुमसे कहने जा रही हूँ तू भी उस निर्मोही के पास जाकर) कहना (तभी उसे वस्तु-स्थिति का विश्वास होगा)" ॥३०॥

टिप्पणी :—'तासौं दुख कहिए...' = लोकोक्ति। बीरा = भाई (लोक भाषा का शब्द)। परिगाहा = प्रतिग्रह; सहायता करना। 'को होइ भीवँ दंगवै परिगाहा'—के अर्थ को लेकर विद्वानों में मतभेद है। डा० माता प्रसाद गुप्त किसी 'दंगवै पुराण' के आधार पर यह मानते हैं कि कृष्ण के विरुद्ध पाटन के राजा दंगवै की सहायता भीम ने की थी (विशेष विवरण के लिए देखिए, 'हिन्दी अनुशीलन' वर्ष ११ अंक १, पृ० १८ पर प्रकाशित डा० गुप्त का लेख 'पद्मावत में दंगवै और भीम'। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल भीम और दंगवै दोनों ही पात्रों को ऐतिहासिक मानते हैं। उनके अनुसार जायसी का संकेत

पर-दुःख कातर किसी मध्यकालीन इतिहास के भीम नामक राजा के प्रति है। उनकी संभावना मात्र है कि गुजरात के चालुक्य राजा भीम द्वितीय से यहाँ कवि का आशय है और दंगवै शब्द चित्तौर के राजा (द्रंगपति) के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसकी सहायता भीम ने की थी—देखिए पद्मावत पर संजीवनी व्याख्या डा० वासुदेव शरण अग्रवाल पृ० सं० — ३६३)। चाहा = अभीष्ट (लक्षणया समाचार)। 'जहां सो कंत गए होइ जोगी' = देखिए—'तजा राज राजा भा जोगी। औ किंगरी कर गहे बियोगी ।। × × × ।। भसम चढ़ाइ कीन्ह तन खेहा ।। मेखलि सिंगी चक्र धँधारी। जोगौटा रुद्राख अधारी ।। कंथा पहिरि डंड कर गहा। × × मुंद्रा स्रवन कंठ जपमाला। कर उद्पान काँध बघछाला ।। पाँवरि पाँव लीन्ह सिर छाता। खप्पर लीन्ह भेस कै राता ।।' (पद्मावत छंद सं० १२६/१-७)।

भसम = भस्म (राख)। पाँवरि = पादुका (खड़ाऊँ—'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति' मानस अयो० का० दोहा सं० ३२६) चेरी = चेटी; दासी (देखिए रत्नाकर कृत उद्धव शतक पृ० ५७—'चेरी हैं न उधो काहू ब्रह्म के बबा की हम···।')। उड़िगा = उदपतत; उड़ गया। करोइ = करक (जलपात्र)। खपर = कर्पर; खप्पर। पवन-वायु और प्राणायाम करते समय की प्राण वायु। अधारि = अधारी; लकड़ी विशेष और अवलम्बित। 'कहेसु बिथा एहि भाँति' = भाव साम्य देखिए रत्नाकर कृत उद्धव शतक पृ० १०३ —'कहियौ कछू ना दसा देखी सो दिखाइयौ। आह के कराहि नैन नीर अवगाहि कछू, कहिबे कौ चाहि हिचकी लै रहि जाइयौ ।।"

नागमती के उपर्युक्त कथन में विरह की बड़ी सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी व्यञ्जना है।

अलंकार—छेकानुप्रास, उपमा, रूपक ॥३०॥

[यह छंद आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित 'जायसी ग्रंथावली' में ही और इसी क्रम में उपलब्ध होता है; देखिए छंद सं० २-क की भूमिका]

पदमावति सौं कहेहु बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम ॥
तू घर घरनि भई पिउ हरता। मोहि तन दीन्हेंसि जप औ बरता ॥
रावट कनक सो तो कँह भएऊ। रावट लंक मोहिं कै गएऊ ॥
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिये दुंद दुख पूरा ॥
हमहुँ बियाही सँग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर जीऊ ॥
अबहुँ मया करु करु जिउ फेरा। मोहिं जियाउ कंत देइ मेरा ॥
मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी ॥
सवति न होइ तू बैरिनि, मोर कंत जेहि हाथ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पाय मोर माथ ॥ ३१ क ॥

व्याख्या :—(नागमती विरह कातर हो बोली—) "हे विहंगम! तुम (सर्वप्रथम) पद्मावती (के पास जाना और उस) से (यह) कहना कि (तू वहाँ मेरे) कान्त को (अपने सौंदर्य के छल से) लुभा कर संयोग कर रही है। प्रिय का अपहरण करने वाली (पद्मावती!) तू (मेरे) घर की गृहिणी बन बैठी (और प्रतिदान में तूने मुझे और) मेरे शरीर को (विरह का) जप और व्रत दे दिया। (प्रिय के संयोग में) तेरा (महल) तो सोने का महल हो गया किन्तु (प्रिय-वियोग देकर तूने) मेरा (सोने का) महल (भी) मुझे लंका (जैसा बना) कर (जला) दिया। तुझे तो (समस्त) शारीरिक सुख (और मानसिक) शान्ति मिला है किन्तु मेरा हृदय (शारीरिक) दुख (और मानसिक) द्वन्द्व से आपूरित हो उठा है। मैं (नागमती) भी उसी प्रियतम (रत्नसेन) के संग विवाहिता (होकर

परित्यक्ता) हूँ। (तू नहीं समझ सकती क्योंकि) जब अपने ऊपर (विपत्ति) पड़ती है तभी हृदय दूसरे (की पीड़ा) को जानता है। (मुझ पर) अब भी कृपा कर और (रत्नसेन को लौटा कर मेरा) प्राण वापस कर दे। मुझे मेरा पति देकर जिला दे। हे बाले! मुझे (सुख) भोग से प्रयोजन नहीं। मैं तो अपनी आँखों के सम्मुख (सदैव) उसका दर्शन मात्र चाहती हूँ। तू, जिसके हाथ (वश) में मेरा पति है, मेरी सपत्नी नहीं अपितु बैरिन (शत्रु) है। (यदि) तू उसे लाकर मुझसे एक बार ही मिला दे, तेरे पैरों पर मेरा मस्तक है (अर्थात् मैं तुझसे पैरों पड़ विनय करती हूँ)" ॥३१ क॥

टिप्पणी :—संगम = संयोग। घरनि = गृहिणी; घर की स्वामिनी। बरता = व्रत; उपवास। रावट = राज (महल)। लंक = लंका का स्वर्ण महल जो हनूमान द्वारा जला दिया गया था, (देखिए छंद सं० २४/२)। चैन = (अमन) चैन (विदेशी शब्द)। दुंद = द्वन्द। बियाही = विवाहिता। चाहनहारी = चक्षुकर्त्री (देखने वाली)। हाथ = हस्त। बेर = बार। माथ = मस्तक।

आपुहि पाइ जानु पर जीउ = सूक्ति वचन।

अलंकार—छेकानुप्रास ॥३१ क॥

रतनसेनि कै माइ सुरसती। गोपीचँद जसि[1] मैनावती॥
आँधरि बूढ़ि सुतहिं[2] दुख रोवा। जोबन[3] रतन कहाँ भुइँ[4] टोवा[5]॥
जोबन अहा लीन्ह सो काढ़ी। मै[6] बिनु टेक करै को ठाढ़ी॥
बिनु जोबन भौ[7] आस पराई। कहाँ सपूत[8] खाँभ[9] होइ आई॥
नैनन्ह[10] दिस्टि[11] त[12] दिया बराहीं। घर अँधिआर पूत जौं नाहीं॥
को रे चलाव[13] सरवन के ठाऊँ। टेक देहि[14] ओहि[15] टेकौं[16] पाऊँ॥
तुम्ह[17] सरवन होइ काँवरि सजी[18]। डारि लाइ सो[19] काहे तजी[20]॥

सरवन सरवन कै[21] ररि मुई, सो[22] काँवरि डारहि[23] लागि।
तुम्ह बिनु पानि न पावै, दसरथ लावै आगि ।।३१।।

पाठान्तर—[1]जस [2]होइ [3]जीवन [4]दहुँ [5]खोवा [6]करइ [7]भइ [8]सो पूत [9]खंभ [10]नैन [11]दीठ [12]नहिं [13]चलै [14]देह [15]औ [16]टेकै [17]तुम [18]सजा [19]अब [20]तजा [21] × [22]माता [23] ×।

व्याख्या—(इधर) रत्नसेन की अंधी और बूढ़ी माता सरस्वती (भी) गोपीचन्द की माँ मैनावती की भाँति ही पुत्र (रत्नसेन के वियोग) के दुःख में (निरन्तर) रोती रहती थी। वह (इसलिए) भूमि को टटोलती (चलती) थी कि उसके यौवन का रत्न-स्वरूप रत्नसेन कहाँ (खो गया) है? (वह दुःखित होकर कहती रही कि—) "जो मेरा यौवन था उसे तो (इस पुत्र ने) निकाल लिया, (अब तो मैं) निरवलम्बा हो गई, (मुझ क्षीण काया को) कौन खड़ा करे? यौवन (शक्ति) हीन मैं पराश्रिता हो गई हूँ, (मेरा) सुपुत्र! कहाँ है, आकर मेरे लिए (स्तम्भ बुढ़ापे की लकड़ी) सहारा बन जा। (यदि) नेत्रों में दृष्टि हो तो दीपक जलते हैं, किन्तु जब पुत्र ही नहीं तो सारा घर अंधकारमय हो जाता है। मुझे मेरे श्रवण (कुमार) के निकट अब कौन ले चलेगा? (जो मुझे यह) सहारा दे उसी के पैर (पर अपना सिर) टेक दूँ। (हे पुत्र!) तुमने तो श्रवण (कुमार) होकर (मेरे लिए बुढ़ापे में) काँवर सजायी थी, तो फिर उसे डाल पर ही लटका कर (मुझ बूढ़ी असहाय माँ को) क्यों छोड़ गए? (इस प्रकार) 'श्रवण-श्रवण' की रट लगाकर (अब तो मैं) मर सी गई हूँ और वह काँवर (वृक्ष की) डाल पर ही लटकी पड़ी है। तुम्हारे बिना (यह तुम्हारी मां तर्पण का) जल नहीं पा सकेगी, क्योंकि दशरथ तो अग्नि-दान ही करेगा" ।।३१।।

टिप्पणी :—माइ = मातृ; मां। सुरसती = सरस्वती। मैनावती = गोपीचंद की माता का नाम (देखिए छंद सं० १०/६ की टिप्पणी)। आँधरि = अंधी; नेत्र विहीन। बूढ़ि = वृद्धा। भुँइ = भूमि। टोवा = टटोलना (लोक भाषा का शब्द)। काढ़ी = निकालना। खांभ = स्तंभ; सहारा। दिया = दीप। बराहीं =

ज्वल; जलना । 'घर अँधिआर पूत जौ नाहीं'—सूक्ति वचन । ठाऊँ = स्थान । सरवन = श्रवण । काँवरि = बहँगी (लोक भाषा में प्रयुक्त शब्द) । दशरथ = पौराणिक पात्र; राम के पिता का नाम । लोक कथा के अनुसार मातृ-पितृ-भक्त श्रवण कुमार अपने अंधे माता-पिता को संभवतः कहीं तीर्थ कराने ले जा रहा था कि उन्हें प्यास लगी । कंधे से बहँगी उतार उसने एक वृक्ष की डाल पर लटका दिया जिससे कि उसकी अनुपस्थिति में उसके असहाय अंधे माता-पिता वन्य-पशुओं से सुरक्षित रह सकें और जल-पात्र लेकर सरयू तट को गया । इधर अयोध्या के महाराज दशरथ भी उधर शिकार करने गए हुए थे । जैसे ही श्रवण ने जलपात्र को भरने के लिए नदी में डुबाया तो उसकी ध्वनि से दशरथ को किसी वन्य-पशु की भ्रान्ति हुई और उसी दिशा में उन्होंने शब्द-बेधी अचूक बाण चला दिया जिससे श्रवण की मृत्यु हो गई । तट पर आते ही उन्होंने जब श्रवण का मृत शव देखा तो वस्तुस्थिति समझते देर न लगी । जलपात्र में जल भरकर वे श्रवण के माता-पिता के पास आए, किन्तु उन्होंने उसे ग्रहण न कर पुत्र के शव के पास तट पर ले जाने की अपनी मनोकामना व्यक्त की । पुत्र के शव का स्पर्श करते ही उन्होंने विलाप करते हुए दशरथ को शाप देकर अपने प्राण त्याग दिए । दशरथ ने प्रायश्चित स्वरूप मृतकों का दाह-संस्कार किया ।

अलंकार—छेकानुप्रास, रूपक, उपमा, पुनरुक्ति-प्रकाश ।।३१।।

लै[1] सो सँदेस बिहंगम चला । उठी आगि मनसा[2] सिंघला ।।
बिरह बजागि बीच को थेघा[3] । धूम जो[4] उठे[5] स्याम[6] भए मेघा ।।

भरि गा गगन लूकि तसि[7] छूटी[8] । होइ सब नखत गिरहिं[9] भुँइ टूटी[10] ॥
जहँ जहँ पुहुमि[11] जरो भा रेहू । विरह के दगध[12] होइ[13] जनि[14] केहू[15] ॥
राहु केतु जरि[16] लंका जरी । औ[17] उड़ि[18] चिनगि[19] चाँद महँ परो ॥
जाइ बिहंगम समुँद डफारा । जरे माँछ[20] पानी भा खारा ॥
दाधे बन तरिवर[21] जल सीपा । जाइ निअर भा सिंघल दीपा ॥
समुँद तीर एक तरिवर, जाइ बैठ तेहि रूख ।
जब[22] लगि कह[23] न[24] सँदेसरा,[25] ओहि[26] पिआस नहि भूख ॥३२॥

पाठान्तर—[1]लेइ [2]सगरौं [3]ठेवा [4]सो [5]उठा [6]साम [7]अस [8]छूटे [9]आइ [10]टूटे [11]भूमि [12]दाघ [13]भई [14]जनु [15]खेहू [16]जब [17]× [18]चिनगी [19]उड़ी [20]मच्छ [21]बीहड़ [22]जौं [23]कहा [24]सँदेस [25]नहिं [26]नहि ।

व्याख्या :—उस सन्देश को लेकर (वह) पक्षी चल पड़ा । (ज्योंही उसने) सिंहलद्वीप (की ओर जाने वाले मार्ग) का मन (से संकल्प) किया (त्योंही उसके शरीर से भीषण) अग्नि (प्रज्वलित हो) उठी । विरह की वज्राग्नि के बीच (अन्य) कौन ठहर सकता है ? उससे जो (घने) धुएँ उठे, उन (के प्रभाव) से बादल काले हो गए । (वहाँ) ऐसी लूक (अग्नि-शलाकाएँ) छूटीं कि (सम्पूर्ण) आकाश भर गया, और वे नक्षत्र के रूप में टूट कर पृथ्वी पर गिरने लगीं (अर्थात् उल्कापात होने लगे) । जहाँ-जहाँ पृथ्वी जली (वहाँ-वहाँ) रेह (मिट्टी) हो गई । विरह के ताप में कोई भी न पड़े । राहु और केतु जलकर (आधे ही)

रह गए, लंका (पूर्णतः) जल गई (और) उस (अग्नि) की एक चिन्गारी चाँद में (जा) पड़ी, (जिससे वह जलकर कुछ काला पड़ गया)। वह पक्षी (जब) समुद्र (तट के ऊपर) जाकर दहाड़ मार कर रोया तो (उसमें स्थित बड़े बड़े) मच्छ जल उठे (तो छोटी-छोटी मछलियों का कहना ही क्या ?) और उसका पानी खारा हो गया। (समुद्र पार करने के बाद जब वह पक्षी आगे बढ़ा तो) वन के वृक्ष और (सरोवरों के) जल (में स्थित) सीप दग्ध हो उठे। (इस प्रकार विरह की वज्राग्नि में सभी को भस्म करता हुआ वह पक्षी) जाकर सिंहलद्वीप के समीप जा पहुँचा। समुद्र तट पर एक विशाल वृक्ष था, उसी वृक्ष पर वह (पक्षी) जा बैठा। जब तक वह (विरहिणी नागमती का) संदेश (उसके प्रियतम रत्नसेन से) न कह लेता, (तब तक) न उसे प्यास थी और न भूख ॥३२॥

टिप्पणी :—मनसा = मन से (संकल्प) किया। थेघा = स्थगन; सँभालना, रोकना। लूकि = उल्का। रेहू = ऊसर भूमि में पाई जाने वाली खारी मिट्टी। केहू = कोई। चाँद = चन्द्र। डफारा = फूट-फूट कर रोया। माँछ = मत्स्य; मगर-मच्छादिक। खारा = क्षारा; लवणयुक्त। तरिवर = तरुवर। निअर = निकट। रूख = वृक्ष। संदेसरा = (देखिए छंद सं० १८/८-९)। पिआस = पिपासा। भूख = बुभुक्षा।

अलंकार—अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, रूपक, वीप्सा, छेकानुप्रास ॥३२॥

रतनसेनि[1] बन करत अहेरा। कीन्ह ओहि तरुवर तर फेरा॥
सीतल बिरिछ समुँद के तीरा। अति उतंग औ छाँह गँभीरा॥
तुरै बाँधि कै बैठु अकेला। औरु[2] जो[3] साथ करैं[5] सब खेला॥
देखेसि[6] फरी जो तरिवर साखा। बैठि[7] सुनहि[8] पाँखिन्ह[9] कै भाखा॥
उन्ह[10] महुँ ओहि[11] बिहंगम अहा। नागमती जासौं दुख कहा॥
पूँछहिं सबै बिहंगम नामा। अहो मीत काहे तुम स्यामा[12]॥

कहेसि मीत मासक दुइ भए। जंबू दीप तहाँ हम गए।।
नगर एक हम देखा, गढ़ चितउर ओहि नाउँ[13]।
सो दुख कहौं कहा लगि, हम दाधे[14] तेहि ठाउँ[15] ।।३३।।

पाठान्तर—[1]रतनसेन [2]साथी [3] × [4]और [5]करहिं [6]देखत [7]लाग [8]सुनै [9]पंखिन्ह [10]पंखिन [11]सो [12]सामा [13]नावँ [14] दाढ़े [15]ठावँ।

व्याख्या—रत्नसेन ने वन में आखेट (शिकार) करते हुए (संयोगवशात्) उसी विशाल वृक्ष के नीचे (अपना) फेरा (विश्राम-स्थल का संकल्प) किया। समुद्र-तट पर वह शीतल वृक्ष था; वह अत्यधिक ऊँचा था और उस (के नीचे) की छाया भी घनी थी। (इसलिए अपने) तुरग को बाँध कर वह वहाँ अकेला (ही) जा बैठा (क्योंकि) और जो साथ के लोग थे वे सभी शिकार खेल रहे थे। उस विशाल वृक्ष की फल युक्त शाखाओं को (उसने ज्यों ही) देखा (त्यों ही उसका ध्यान पक्षियों की ओर भी आकर्षित हो उठा और इस प्रकार) वह बैठ कर (ध्यानपूर्वक) उन पक्षियों का संभाषण (वार्तालाप) सुनने लगा। उन (पक्षियों) में वह पक्षी भी था जिससे नागमती ने अपनी विरह-व्यथा कही थी। सभी पक्षी नामधारी उससे पूँछ रहे थे कि—"हे मित्र! तुम (इतने) काले क्यों हो गए हो?" (प्रत्युत्तर में) वह (पक्षी) कहने लगा कि—"हे मित्र! कोई दो मास हुए मैं जम्बू-द्वीप गया (हुआ) था, वहाँ मैंने एक नगर देखा, उसका नाम चित्तौड़गढ़ है। (वहाँ का) वह दुःख मैं कहाँ तक कहूँ? मैं उसी स्थान पर (इस प्रकार) दग्ध हो (कर इतना काला हो) गया" ।। ३ ।।

टिप्पणी :—अहेरा = आखेट। तर = तल। बिरिछ = वृक्ष। समुँद = समुद्र। उतंग = उत्तुंग। तुरै = तुरग (घोड़ा)। साथ = सार्थ; जनसमूह। खेला = क्रीड़ा। भाखा = भाषा। मीत = मित्र। तुम = त्वम्। दुइ = द्वि, दो। दीप = द्वीप। हम = अहम्; मैं। चितउर = चित्तौड़। नाउँ = नाम।

अलंकार—छेकानुप्रास ।। ३३ ।।

जोगी होइ निसरा जो राजा । सून नगर जानहुँ धुँध बाजा ॥
नागमती है ताकरि रानी । जरि[१] बिरहैं[२] भै[३] कोइलि[४] बानी ॥
•अब लगि जरि होइहि[५] भै[६] छारा । कहि[७] न जाइ बिरहा[८] कै झारा ॥
हिया फाट वह जबहिं[९] कुहूकी[१०] । परे आंसु होइ[११] होइ[१२] सब[१३] लूकी ॥
चहुँ[१४] खँड छिरकि[१५] परी[१६] वह आगी । धरती जरत गगन कहँ लागी ॥
बिरह दवा अस[१७] को रे[१८] बुझावा । चहै[१९] लागि[२०] जरि[२१] हिअरे[२२] धावा ॥
हौं पुनि तहाँ डहा[२३] दव[२४] लागा । तन भा स्याम[२५] जीउ लै[२६] भागा ॥
का तुम्ह हँसहु गरब कै, करहु समुँद महुँ केलि ।
मति ओहि बिरहै[२७] बसि[२८] परहु[२९], दहै अगिनि जल[३०] मेलि ॥३४॥

पाठान्तर—[१]जरी [२]बिरह [३]भइ [४]कोइल [५]भइ [६]होइहि [७]कही [८]बिरह [९]जबहीं [१०]कूकी [११]तब [१२-१३]होइ [१४]चहूँ [१५]छिटकी [१६]× [१७]× [१८]जरत [१९]जेहि [२०]लागै [२१]सो [२२]सौहैं [२३]सो [२४]दाढ़ै [२५]साम [२६]लेइ [२७]बिरहा [२८]बस [२९]परै [३०]जो ।

व्याख्या—"(वहाँ का) राजा योगी होकर जो निकला (तो) वह नगर ऐसा सूना हो गया मानों धुंध ही छा गया हो । नागमती उस (राजा) की रानी (का नाम) है जो (उसके) विरह में जलकर कोकिल वर्णा हो गई । अब तक तो वह जलकर (जैसा कि मैं अनुमान करता हूँ) राख (भी) हो गई होगी । (उसके) विरह की ज्वाला (ऐसी थी कि मुझसे) कही नहीं जाती है । जैसे ही

वह (मुझे देखकर 'प्रिय-प्रिय' कह) कुहकी कि (मेरा तो) हृदय ही विदीर्ण हो गया क्योंकि (उसकी आँखों के) सभी आँसू लूक (उल्का) के रूप में होकर गिरते थे। वह अग्नि (पृथ्वी के) चारों खण्डों में छिटक-छिटक कर गिरने लगी और (अधिक क्या कहूँ) धरती के जलते-जलते वह (अग्नि) ऊपर आकाश में जा लगी। विरह की ऐसी दावाग्नि को भला कौन बुझाए ? जो (और भी अधिक) जल कर उसके हृदय में (ही) लग जाना चाहती हो जो (उसे बुझाने के लिए उसकी ओर) दौड़ता हो। पुनः मैं भी (इसी मनो-कामना से उसकी ओर) वहाँ (बढ़ा ही था कि) उस दावाग्नि के लग जाने से दग्ध हो गया, (किन्तु तभी) मैं अपने प्राण ले भाग खड़ा हुआ (यद्यपि शरीर जल कर राख होने से तो बच गया किन्तु) फिर भी मेरा शरीर (उस अग्नि में पड़ जाने के कारण) काला (तो) पड़ (ही) गया। (मेरी इस कथा को सुनकर) क्या तुम (इसीलिए) गर्व करके हँस रहे हो कि (तुम सभी) समुद्र में क्रीड़ा करते हो (जहाँ आग नहीं पहुँचती, तो यह तुम्हारी भ्रान्त धारणा है क्योंकि) यदि कहीं उस विरह (की अग्नि) के वश में पड़ गए, तो वह (समुद्र के) जल में भी अग्नि डाल (बड़-वाग्नि के रूप में परिवर्तित हो) कर तुम्हें जला देगी [अथवा वह अग्नि समुद्र के जल में भी (मेलि मिलकर) घुसकर जला डालने वाली है।"] ॥ ३४ ॥

टिप्पणी :—सून = शून्य; निर्जन । धुँध = धुँधलका । बानी = वर्ण (देखिए छंद सं० १४/१ । 'कहि न जाइ बिरहा कै भारा' सूक्ति-वचन । कुहूकी = कूक कर रोई (देखिए छंद सं० २८/१) । लूकी = उल्का (देखिए छंद सं० ३२/३) । धरती = धरित्री; पृथ्वी । दवा = दावाग्नि । गरब = गर्व । केलि = क्रीड़ा । बसि = वश; आधीन । अगिनि = अग्नि ।

अलंकार—उपमा, अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास ॥ ३४ ॥

सुनि चितउर राजैं मन गुना। बिधि सँदेस मैं कासौं सुना ॥
को तरिवर अस[1] पंखो भेसा[2]। नागमती कर कहै सँदेसा ॥
को तूँ भींत मन चित्त बसेरू। देव कि दानव पौन[3] पखेरू ॥

रुद्र[४] ब्रह्म[५] सौं[६] बाचा[७] तोहीं । सो निजु अंत[८] बात[९] कहु[१०] मोहीं ॥
कहाँ सो नागमती तुइँ[११] देखी । कहेसु[१२] बिरह जस मरन[१३] बिसेखो ॥
हौं राजा[१४] सोइँ[१५] भा जोगी । जेहि कारन वह ऐसि बियोगी ॥
जस तूँ पंखि हौंहु[१६] दिन भरऊँ[१७] । चाहौं कबहुँ[१८] जाइ उड़ि परऊँ[१९] ॥

पंखि आँखि तेहि मारग, लागी दुनहुँ[२०] रहाहिं ।
कोइ न सँदेसो आवहिं, तेहि क सँदेस कहाहिं ॥३५॥

पाठान्तर :—[१]पर [2]बेसा [3]पवन [४]ब्रह्म [५]बिष्नु [६]बाचा [७]है [८]बात [९]कहै [१०]तू [११]तैं [१२]कहेसि [१३]मरत [१४]सोई [१५]राजा [१६]महूँ [१७]मरौं [१८]कबहिं [१९]परौं [२०]नदा ।

व्याख्या :—चित्तौड़ (का नाम और उसको रानो नागमती की कथा) सुन कर राजा (रत्नसेन) ने मन में विचार (स्वगत-कथन) किया "हे विधाता ! (यह) सन्देश मैं किससे सुन रहा हूँ ? पक्षी-वेश में वृक्ष पर ऐसा कौन (जीवधारी) है, जो नागमती का (विरहन) सन्देश मुझसे कहा रहा है ?" (तदनन्तर उसने प्रकट कहा-) "हे मित्र ! मेरे मन और चित्त में बस जाने वाला (अथवा चित्त-चित्तौड़ का बसेरू निवासी, या चित्तौड़ में कुछ दिन बसेरा करने वाला हे मन मीत-प्राण प्रिय अभीष्ट-मित्र!;) तू कौन (सा मन-विवेक युक्त जीवधारी) है ? तू देव है कि दानव है या (कोई) पवन-पक्षी है ? तुझे रुद्र और ब्रह्मा की (एक दो नहीं अपितु) सौ शपथ है, तू (अभी जिस चित्तौड़ की कुछ एक बात कह रहा था) से सही-सही उस (तथ्यपूर्ण) वार्ता को अन्त (पूर्ण होने) तक मुझसे कह (अथवा मुझसे अपने अन्तर्मन की बात कह) । मरण के सदृश जिसके विरह का विशेष (मर्मान्तक) वर्णन (प्रस्तुत) किया (ऐसी) उस (विरहिणी) नागमती को तूने कहाँ (और किस मुद्रा में) देखा । (पूरे विस्तार के साथ बता क्योंकि) मैं ही वह राजा (रत्नसेन) हूँ जो योगी हो (कर चित्तौड़ से यहाँ सिंहलद्वीप के

लिए आ) गया था और जिसके कारण वह ऐसी वियोगिनी हो रही है। जिस प्रकार तू उसी, प्रकार हे पक्षी! मैं भी अपने दिन काट रहा हूँ और मेरी यही मनोकामना है कि कब वहाँ जाकर उड़ पड़ूँ (जहाँ मेरी वह विरहिणी अपने वियोग के दिन काट रही है)। हे पक्षी! (तुझसे सच कहता हूँ कि) मेरी दोनों आँखें उसी मार्ग में (बराबर) लगी (ही) रहती हैं, किन्तु कोई (भी) ऐसे सन्देशवाहक नहीं आते जो उसका सन्देश (मुझ से) कहें" ॥ ३५ ॥

टिप्पणी :—गुना = स्वगत-कथन; विचार किया। भेस = वेश (में)। पौन = पवन (देखिए छंद सं० = ६/८-९)। पखेरू = पक्षी (पक्षियरु-कन्नड भाषा)। निजु = देखिए छंद सं० २६/७। अन्त = अन्तः करण (अथवा जैसी हो वैसी-कन्नड़ भाषा)। आँखि = अक्षि।

अलंकार—अंत्यानुप्रास, छेकानुप्रास, उदाहरण ॥ ३५ ॥

पूँछसि काह[1] सँदेस बियोगू। जोगी भया[2] न जानसि जोगू॥
दहिने संख न सिंगी पूरै। बाएँ पूरि बादि दिन[3] झूरै॥
तेलि बैल जस बाएँ[4] फिरै[5]। परा भौंर[6] महँ सौंह[7] न तिरै[8]॥
तुरी[9] औ[10] नाव दाहिन[11] रथ हाँका। बाएँ फिरै कोंहार क चाका॥
तोहि अस नाहीं पंखि भुलाना। उड़ै सो आदि[12] जगत महँ[13] जाना॥
एक दीप का आवउँ[14] तोरे। सब संसार पाँव[15] तर मोरे॥
दहिनँ[16] फिरै अस[17] सो[18] उजिआरा[19]। जस जग चाँद सुरुज औ तारा[20]॥

मुहमद बाईं दिसि तजी[२१], एक सरवन[२२] एक आँखि ।
जब ते दाहिन होइ मिला, बोलु[२३] पपीहा पाँखि ॥३६॥

पाठान्तर ।—[१]कहा [२]भए [३]राति [४]आँव [५]फिराई [६]भँवर [७]सो [८]तिराई [९]तुरय[१०] × [११]दहिनें [१२]आव [१३]महँ [१४]आएउँ [१५]पाँय [१६]दहिने [१७]सो [१८]अस [१९]उजियारा [२०]मनियारा [२१]तजा [२२]स्रवह [२३] बोल ।

व्याख्या :—(रत्नसेन के प्रति प्रत्युत्तर में पक्षी का कथन-) "तू वियोग का सन्देश क्या पूछता है ? जोगी हो (कर अपने घर से निकल) तो गया किन्तु (वि-) योग की बात नहीं जानता (क्योंकि यहाँ तू पद्मावती के संयोग में सब कुछ भूल चुका) है । (मुख की) दाहिनी ओर से न तू शंख (फूँकता है और न सिंगी पूरता (बजाता) है (अर्थात् दक्षिण मार्ग-भक्ति और प्रेम को ग्रहण नहीं करता) और (वाम-मार्गी हो कर) बाईं ओर से बजा कर व्यर्थ ही (अपने जीवन के) दिन गँवा रहा है । तू तेली के (कोल्हू में तेल पेरने वाले) बैल की भाँति ही बाएँ घूमता (वाम-मार्ग का सेवन करता) है (इसी कारण) भँवर में पड़ा हुआ (चक्कर ही लगाता रह जाता) है, सामने की ओर नहीं तिर (पार कर) पाता । घोड़ा, नाव और रथ दाहिने हाँके (चलाए और आगे बढ़) जाते हैं, किन्तु कुम्हार (कुम्भकार) का चाक (चक्र) ही बाँए फिरता (फलतः एक ही स्थान पर स्थिर रह जाता) है । पक्षी तेरी तरह (अज्ञान में) भुलाया हुआ नहीं रहता, (इसी कारण) वह संसार में आदि (प्रारम्भ) से ही उड़ना (किसी भी बन्धन में न बँध स्वच्छन्द विचरण करना) जानता है । क्या मैं तेरे इसी एक द्वीप में आया हूँ ? (जो ऐसा कह रहा हूँ अपितु यह तो संसार की वास्तविकता का निर्वचन कर रहा हूँ क्योंकि) सारा संसार मेरे पैरों तले रहता है (अर्थात् जो कुछ भी कह रहा हूँ सांसारिक स्तर से ऊपर रहने के कारण और इसीलिए उसकी प्रामाणिकता अकाट्य हैं) । जो दाहिने (प्रेम, भक्ति और उपासना का दक्षिण-पंथ) फिरता (चलता) है, वह इस प्रकार उज्ज्वल (प्रकाशमान) होता है जिस प्रकार संसार में सूर्य, चन्द्र और तारकगण (होते) हैं । (इसीलिए)

मुहम्मद (कवि जायसी) ने (भी अपने शरीर के) वाम-भाग स्थित एक कान और एक आँख (वाममार्गी साधना का सुनना और देखना) तक त्याग दिया (तो उसके आचरण की बात तो दूर रही) और जब से वह दाहिने होकर (प्रियतम से) मिला है, (तब से) उसका (प्रिय) बोल पपीहे पक्षी का (पिउ) हो गया है [(अथवा बोलु पपीहा पांखि-पपीहे पक्षी का बोल 'पीउ')—प्रियतम जबसे (दाहिन-दक्षिण) अनुकूल होकर मिला तब से मुहम्मद ने वाम-मार्ग का एक तो सुनना और एक देखना दोनों ही छोड़ दिया]" ।। ३६ ।।

यहाँ कवि ने वाम-मार्ग की अपेक्षा दक्षिण पंथ की साधना-पद्धति को सुगम और श्रेयस्कर माना है ।

टिप्पणी :—दहिने = दक्षिणावर्त (दक्षिण पंथ; भक्ति, उपासना और प्रेम) संख = शंख । बाएँ = वाम (योग साधना और निर्गुणोपासना का वाम पंथ) । बादि = व्यर्थ । तेलि बैल = तेली का बैल जिसकी आँखें बन्द रहती हैं और सदैव अपने बाएँ से घूमता है । नाव = नौका । कोंहार = कुम्भकार । चाका = चक्र । भुलाना = अज्ञान में भूला हुआ । दीप = देखिए छंद सं० ३३/६ । तारा = तारक । सरवन = श्रवण; सुनना (श्रोत्रेन्द्रिय), आंखि = अक्षि, (चक्षुरिन्द्रिय और उसका विषय देखना) । दाहिन = दक्षिण; अनुकूल । बोलु = बोल (शब्द) ।

अलंकार—उदाहरण छेकानुप्रास, श्लेष ।। ३६ ।।

हौं ध्रुव अचल सो[1] दाहिन लावा । फिरि[2] सुमेरु चितउर गढ़ आवा ।।
देखेउँ तोरे मँदिर घमोई । माता तोरि[3] आँधरि भै[4] रोई ।।
जस सरवन बिनु अंधी अंधा । तसररि मुई तोहि चित बंधा ।।
कहेसि मरौं अब[5] काँवरि रेई[6] । सरवन[7] नाहिं पानि[8] को देई ।।
गई पिआस लागि तेहि साथाँ । पानि दिहें[9] दसरथ के हाथाँ ।।

पानि न पियै आगि पै चाहा । तोहि अस पूत[१०] जरम[११] अस लाहा ॥
भागीरथी[१२] होइ[१३] करु[१४] फेरा । जाइ[१५] सँवारु[१६] मरन कै बेरा ॥
तूँ सपूत मनि[१७] ताकरि[१८], अस परदेस न लेहि ।
अब ताईं मुई होइहि, मूएहुँ[१९] जाइ गति देहि ॥३७॥

पाठान्तर—[१]सौं [२]फिर [३]तोहि [४]भइ [५]को [६]लेई [७]पूत [८]पानी [९]दीन्ह [१०]सुत [११]जनमे [१२]होइ [१३]भगीरथ [१४]करु तहँ [१५]जाहि [१६]संवार [१७]माता [१८]कर [१९]मुए ।

व्याख्या—"सर्वप्रथम मैंने अचल ध्रुव से दाहिना मार्ग लिया, तदनन्तर सुमेरु से घूमकर मैं चित्तौड़गढ़ आया । तेरे (राज-) भवन में मैंने घमोय (सत्यानाशी नाम का पौधा जो वीराने में ही उगता है, उगा हुआ) देखा । तेरी माता (सरस्वती) रो-रोकर अंधी हो गई है। जिस प्रकार श्रवण (कुमार) के (शाश्वत) वियोग में उसके अंधे माता-पिता (की स्थिति हुई थी) उसी प्रकार तुझमें एक चित्त हुई वह भी तुझे रटती हुई मृत-प्राय हो गई है । (उसने मुझसे इतना ही) कहा—'मेरी काँवर (डाल पर) लटकी हुई है और मैं मर रही हूँ, (मेरा) श्रवण नहीं है, (उसके बिना) पानी कौन देगा ? मेरी प्यास भी तो उसी के साथ चली गई है ।' दशरथ के हाथ से पानी दिए जाने पर पानी नहीं पीती है, (उससे अब तो) आग ही चाहती है; तेरे ऐसे (अयोग्य) पुत्र के जन्म (देने) से उसे यह लाभ (कष्ट) हो रहा है । (कम से कम अब) भागीरथी की भाँति लौट जा, (और) उसके मरण को बेला (में पहुँच कर उसका परलोक) सँवार । तू उस माता का सुपुत्र-मणि है, (उसे बिल्कुल ही भूल कर) इस प्रकार प्रवास न ले । अब तक तो वह मर भी चुकी होगी, (तो भी) मरने पर ही जाकर उसे उत्तम गति प्रदान कर" ॥३७॥

टिप्पणी :—ध्रुव = ध्रुव । घमोई = घमोय; कटीले पत्तों का एक पौधा जिसे सत्यानाशी भी कहते हैं (देखिए मानस, सभा संस्करण लंका कांड पृ० ८२८—बेनु मूल सुत भयउ घमोई), लोक

-भाषा का शब्द । आँवरि भै रोई = देखिए छंद सं० ३१/२ । रेइ = लटकी हुई है । पूत = पुत्र । जरम = जन्म (देखिए छंद सं० १८/७) । लाहा = लाभ; उपलब्धि । भागीरथी = गंगा, लक्षणया भगीरथ; राजा सगर के पुत्र भगीरथ ने अपने मृत भाइयों का उद्धार करने के निमित्त गंगा को पृथ्वी-तल पर अवतरित किया (गंगावतरण आख्यान) । बेरा = बेला । मनि = मणि । परदेस = पर देश; प्रवास ।

अलंकार—श्लेष, उदाहरण, उपमा, अन्त्यानुप्रास ।।३७।।

नागमती दुख बिरह अपारा । धरती सरग जरैं तेहि झारा ।।
नगर कोट घर बाहिर[1] सूना । नौजि होइ घर पुरुख[2] बिहूना ।।
तूँ काँवरू परा बस लोना[3] । भूला जोग छरा जनु[4] टोना[5] ।।
ओहि[6] तोहि कारन मरि भै[7] बारा[8] । रही नाग होइ पवन अधारा ।।
कह[9] चीलह्न्ह[10] पिअ[11] पहँ[12] लै[13] खाहू । माँसु न कया[14] जो[15] रुचैं[16] काहू ।।
बिरह मँजूर[17] नाग वह नारी । तूँ मँजार करु बेगि गोहारी ।।
माँसु गरा[18] पाँजर होइ परी । जोगी अबहुँ पहुँचु लै[19] जरी ।।
देखि बिरह दुख ताकर, मैं सो तजा बनबास ।
आएँउ भागि समुँद[20] तट, तउअ[21] न छाँड़ैं पास ।।३८।।

पाठान्तर—[1]बाहर [2]पुरुष [3]टोना [4]तोहि [5]लोना [6]वह [7]भइ [8]छारा [9]कहुँ [10]बोलहि [11]मों [12]कहँ [13]लेइ [14]काया [15]रुचै [16]जो [17]मयूर [18]गिरा [19]लेइ [20]समुद्र [21]तबहुँ ।

व्याख्या—"(और हे राजा !) नागमती की विरह-व्यथा (तो) अपरम्पार (ही) है । (उसकी कुछ एक कल्पना इसी से कर सकते हो कि) धरती (से)

आकाश (तक सभी) उसी (विरह की) अग्नि में प्रज्वलित हो रहे हैं। नगर और परकोटा, घर तथा बाहर (सर्वत्र) सूना (ही सूनापन छा गया) है। (ईश्वर करे,) कोई घर पुरुष-विहीन न हो। तू (तो यहाँ अपनी) कामना के अनुरूप (सिंहलद्वीप में आकर कामरूप के) लावण्य (सौन्दर्य) के वशीभूत हो गया; और (नागमती का वह सं-) योग भूल गया मानों किसी टोना (तन्त्र-मन्त्र) से छला गया। वह (बेचारी) बाला (नागमती वहाँ) तेरे (प्रेम के) कारण मृत-प्राय हो गई और नाग की भाँति (खाना-पीना त्याग) पवन (मात्र) के आधार पर जी रही है। (विरह में कृशकाय) वह (विरहिणी) चील्हों से कहती रही कि 'मुझे मेरे प्रिय के पास ले जाकर खा डालो।' किन्तु उसकी काया में माँस तो (शेष) रहा नहीं जो किसी (पक्षी तक) को रुचे। वह नारी (नागमती) नाग है (जिसे) विरह (रूपी) मयूर (खा जाना चाहता है; इसलिए तू (रत्नसेन) मार्जार (के रूप) बन कर शीघ्र रक्षा कर। (उसके शरीर का सारा) माँस गल गया है और वह अस्थिपंजर (ठठरी) मात्र हुई पड़ी है। हे योगी! तू अब भी (सुदर्शन की) जड़ी लेकर पहुँच जा। उसकी (उस) विरह-व्यथा को देखकर (ही) मैंने उस बन (जहाँ वह मिली थी,) का निवास छोड़ दिया और भाग कर (इस) समुद्र तट पर आया किन्तु तब भी वह (विरह-व्यथा) मेरा पास (सान्निध्य) नहीं छोड़ रही है" ।।३८।।

टिप्पणी :—पक्षी द्वारा रत्नसेन से नागमती का बिरह वर्णन। सरग= स्वर्ग (लक्षणया आकाश)। झारा=ज्वाला। कोट= प्रकोष्ठ; पर कोटा। नौजि='ऐसा कभी न हो कि'-लोक भाषा का शब्द। 'नौजि होइ घर पुरुख बिहूना'-सूक्ति वचन। कांवरू=कामरूप; कामना के अनुरूप। लोना= लावण्य, रूप सौन्दर्य। छरा=छला। टोना=तंत्र-मंत्र। तत्कालीन लोक समाज के अन्धविश्वास-जादू टोना की ओर कवि का संकेत है। बारा=बाला। नाग=नागमती; सर्प। अधारा=आश्रिता। चील्हन्ह=पक्षी विशेष (देखिए छंद सं० २७/१)। मँजूर=मयूर। मर्जार=माजरि; बिलाव।

वेगि = वेग; शीघ्र। गोहारी = रक्षा करना (लोक भाषा का शब्द)। पाँजर = पञ्जर; अस्थि पंजर। टट = तट (देखिए छंद सं०-३२/८)। पास = पार्श्व।

अलंकार—श्लेष, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति ॥३८॥

अस परजरा बिरह कर कठा[१]। मेघ स्याम[२] भै[३] धुआँ[४] जो उठा ॥
दाधे[५] राहु केतु गा दाधा। सूरज[६] जरा चाँद जरि आधा ॥
औ सब नखत तराईं जरहीं। टूटहिं लूक धरनि[७] महँ परहीं ॥
जरी[८] सो धरती ठाँवहिं ठाँवाँ[९]। ढंख[१०] परास[११] जरे[१२] तेहि दावाँ[१३] ॥
बिरह साँस तस निकरै[१४] झारा। धिकि[१५] धिकि[१६] परबत होहिं अँगारा ॥
भँवर पतंग जरे[१७] औ नागा। कोइलि भुँजइलि औ[१८] सब[१९] कागा ॥
बन पंखी सब जिउ लै[२०] उड़े। जल पंछी[२१] जरि[२२] जल[२३] महँ[२४] बुड़े ॥
हँहूँ[२५] जरत तहँ निकसा, समुद बुझाएउँ आइ।
समुँदौ[२६] जरा[२७] खार[२८] भा[२९] पानी[३०], धूम[३१] रहा जग छाइ ॥३६॥

पाठान्तर—[१]गठा [२]साम [३]भए [४]धूम [५]दाढ़ा [६]सूरुज [७]धरति [८]जरे [९]ठाऊँ [१०]दहकि [११]पलास [१२]जरै [१३]दाऊ [१४]निकसै [१५]—[१६]दहि [१७]जरै [१८]× [१९]डोमा [२०]लेइ [२१]महँ [२२]मच्छ [२३]दुखी [२४]होइ [२५]महूँ [२६]समुद्र [२७]पानि [२८]जरि [२९]खार [३०]भा [३१]धुआँ।

व्याख्या :—"(उस नागमती के) विरह-व्यथा (कठा-कष्ट) इस प्रकार प्रज्वलित हुई कि (उससे) जो धुआँ उठा तो मेघ श्यामल हो गए। राहु दग्ध

हो गया और (तदनन्तर) केतु भी दग्ध हो गया। सूर्य जल गया और चन्द्रमा (भी) जलकर आधा हो गया। और (क्या कहूँ) सभी नक्षत्र और तारक-पंक्तियाँ (अभी तक) जल ही रहे हैं, जो टूट-टूट कर (आकाश से) पृथ्वी पर उल्काओं के रूप में गिरते हैं, जिनसे स्थान-स्थान पर पृथ्वी जल उठी। ढाक और पलाश भी उसी दावाग्नि (के प्रभाव) से जल गए। उसके विरह जन्य उच्छ्वासों से ऐसी (भीषण) ज्वाला निकलती है कि (उससे) दहक-दहक कर (विशालकाय) पर्वत (भी) लाल अंगारों की भाँति हो गए हैं। भ्रमर, शलभ (पतंगा) और नाग (भी उसी से) जल (जाने के कारण काले हो) गए। कोयल, भुंजइल और सभी कौए (भी) जल (जाने के कारण ही काले हो) गए। वन्य-पक्षी तो सभी अपने प्राणों को (हाथ में) ले (अन्यत्र किसी सुरक्षित स्थान को) उड़ गए और जलाशयों के (तीर पर रहने वाले) पक्षियों ने जल (झुलस) कर जल में डुबकी लगा ली। मैं भी जलता हुआ वहाँ से (किसी प्रकार) निकल भागा और आकर समुद्र में (अपने आप को) बुझाया (शीतल किया, किन्तु इससे) समुद्र भी जल गया और उसका पानी खारा हो गया, जिसका धुआँ (काले बादलों के रूप में) संसार पर छाया हुआ है" ॥३६॥

टिप्पणी :—परजरा = प्रज्वलित हुआ। कठा = काष्ठ और कष्ट। धुआँ = धूम (देखिए छंद सं० ३२/२)। आधा = अर्द्ध। पतंग = पतंगा; शलभ। ढंख = ढाक (देखिए छंद सं० १४/८)। परास = पलाश (देखिए = २८/५)। दावाँ = दावाग्नि (देखिए छंद सं० ३४/६)। धिकि-धिकि = दग्ध होकर या दहक-दहक कर। भुंजइलि = भुजंगा पक्षी विशेष। हौंहूँ = अहमपि; मैं भी। छाइ = आच्छाद्य; छा कर। (उपर्युक्त छंद के संदर्भ में देखिए छंद सं० ३२/१-७)

अलंकार—अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, वीप्सा ॥३६॥

राजैं कहा रे सरग सँदेसी। उतरु[1] आउ मोहि मिलु सह[2] देसी[3] ॥
पाँव[4] टेकि तोहि लावौं[5] हिअरे। प्रेम सँदेस कहै[6] होइ निअरे ॥

कहा बिहंगम जो बनबासी। कित गिरही तैं[7] होइ उदासी ।।
जेहि तरिवर तर तुम[8] अस कोऊ। कोकिल काग बराबरि[9] दोऊ ।।
धरती महुँ[10] बिख[11] चारा परा। हारिल जानि पुहुमि[12] परिहरा ।।
फिरौं बियोगी डारहिं डारा। करौं चलै कहँ पंख सँवारा ।।
जिअन[13] की[14] घरी घटत[15] निति जाहीं। साँसहिं[16] जिउ[17] है[18] देवसन्ह[19] नाहीं ।।

जौं लहि फेरि[20] मुकुति[21] है[22], परौं न पिंजर[23] माहँ।
जाउँ[24] बेगि थरि[25] आपनि[26], है जहाँ[27] बिंझ[28] बनाँह[29] ।।४०।।

पाठान्वर—[1]उतरि [2]रे [3]बिदेसी [4]पाय [5]लायौं [6]कहहु [7]तें [8]तुम्ह [9]बराबर [10]महँ [11]विष [12]भूमि [13]जिये [14]क [15]घटति [16]साँझहिं [17]जीउ [18]रहे [19]दिन [20]फिरौं [21]मूकुत [22]होइ [23]पींजर [24]जाउ [25]थल [26]आपने [27]जेहि [28]बीच [29]निबाह।

व्याख्या:—(इसको सुनकर) राजा ने कहा—"हे स्वर्ग-दूत ! हे सहृदेशी ! तू (वृक्ष से नीचे) उतर, (मेरे पास) आ, और मुझसे मिल। (तेरे) पैरों पड़कर मैं तुझे हृदय से लगाऊँगा(समादृत करूँगा)। तू मेरा प्रेम-संदेश समीप आकर कह।" बन का निवासी पक्षी बोला—"तू गृहस्थ से उदासीन (सन्यासी) क्यों हो रहा है ? जिस वृक्ष के नीचे तुम्हारी तरह कोई (अज्ञानी सांसारिक) हो, वहाँ कोयल और काग दोनों (के मूल्यांकन का आधार वाह्य होता है, आन्तरिक गुण नहीं) बराबर होते हैं। धरती में विष-चारा (अज्ञान) पड़ा हुआ है, यह जानकर हारिल ने पृथ्वी (पर उतरना-बैठना) ही त्याग दिया मैं वियोगी तो एक डाल से दूसरी डाल विचरण करता हूँ और (बराबर आगे) चलने के लिए पंख सवाँरता (ठीक करता) रहता हूँ। जीवन की एक-एक घड़ी (पल) नित्य घटती ही जाती है। प्राण (जीवन) साँसों में (टिका हुआ) है, दिनों

में नहीं (इसलिए सभी को अपना कर्तव्य और उसका उत्तरदायित्व भली-भाँति समझना चाहिए)। जब तक विचरण की स्वच्छन्दता है, (तब तक) पिंजड़े (बन्धन) में न पड़ूँगा (इसीलिए तुम्हारी प्रार्थना पर भी वृक्ष से नीचे नहीं उतर सकता क्योंकि तुम्हारा क्या विश्वास ? मैंने नागमती का सन्देश तुम तक पहुँचा कर अपना कर्तव्य पूरा कर उत्तरदायित्व से उऋण हुआ)। मैं (अब) शीघ्र ही वहाँ जा रहा हूँ जहाँ विन्ध्य वन में (मेरी) अपनी स्थली (बसेरा) है (क्योंकि वहाँ के कार्य भी तो मुझी को करने हैं और जीवन का एक-एक पल सीमित है)" ॥४०॥

टिप्पणी :—उतरु=अवतर; नीचे आ। सहदेशी=एक ही देश का वासी। गिरही=गृहस्थी; लक्षणया गहस्थ। उदासी=सन्यस्त या विरक्त। बिख चारा=विष चारण; माया (देखिए पद्मावत् छंद सं० ७० और ७१)। हारिल=अपने पञ्जे में लकड़ी का टुकड़ा सदैव लिए रहने वाला एक मझोला पक्षी। "जिअन की घरी····"देखिए पद्मावत छंद सं० ४२/८-९ (—'मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी की रीति। घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति ॥') मुकुति=मुक्ति। थरि=स्थली। बिंझ=विंध्य। यहाँ कवि सन्यस्त जीवन की अपेक्षा माया और अज्ञान से दूर रहते हुए गृहस्थ जीवन का समर्थन करता है।

अलंकार—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास ॥४०॥

कहि सो[1] सँदेस[2] बिहंगम चला। आगि लाइ[3] सगरिउ[4] सिंघला ॥
घरी एक राजैं गोहरावा। भा अलोप पुनि दिस्टि न आवा ॥
पंखी नाउँ[5] न देखौं[6] पाँखौं[7]। राजा रोइ फिरा कै साँखौ[8] ॥
जस हेरत यह[9] पंखि हेराना। दिनेक[10] हमहुँ[11] अस[12] करब पयाना ॥
जौं लगि प्रान पिंड एक ठाऊँ। एक बेर[13] चितउर गढ़ जाऊँ ॥

आवा भँवर मँदिर जहँ[१४] केवा। जीउ साथ लै[१५] गएउ परेवा॥
वन सिंघल मन चितउर बसा। जिउ बिसँभर जनु[१६] नागिनि[१७] डसा॥
जेव[१८] नारि हँसि पूँछै[१९], अमिय बचन जिमि[२०] निंत[२१]।
रस उतरा सो[२२] चढ़ा[२३] बिख[२४], ना ओहि चिंत[२५] न मिंत[२६] ॥४१॥

पाठान्तर :— [१] × [२]सन्देस [३]लागि [४]सगरौं [५]नावँ [६]देखा [७]पाँखा [८]साँखा [९]वह [१०]दिन एक [११]हमहूँ [१२] × [१३]बार [१४]महँ [१५]लेइ [१६]नागिनि [१७]जिमि [१८]जेति [१९]पूछहि [२०]जिउ [२१]तंत [२२]विष [२३]चढ़ि [२४]रहा [२५]तंत [२६]मंत।

व्याख्या :— (इस प्रकार) पक्षी (नागमती का) वह सन्देश कह कर और सारे सिंहलद्वीप में (विरह की) आग लगा कर (विंध्य वन स्थली की ओर उड़) चला। कुछ एक घड़ी तक राजा उसे पुकारता रहा, किन्तु वह (दूरगामी पक्षी दिशाओं में) ऐसा खो गया कि पुनः दृष्टिगत न हुआ। (फलतः) 'नाम तो पक्षी है किन्तु (उड़ जाने के बाद उसका एक भी) पंख नहीं देख रहा हूँ," इस प्रकार रो कर तत्व-निरूपण करता हुआ (वह) राजा (सिंहलद्वीप के राज-महल को) वापस आया कि "जिस तरह यह (पक्षी) देखते-देखते अदृश्य हो गया इसी तरह हम सभी (अपने) एक (निश्चित) दिन (इस संसार से) प्रयाण कर जायेंगे। (इसलिए) जब तक प्राण और पिण्ड दोनों एक स्थान पर (साथ-साथ समन्वित) हैं, (तब तक कम से कम) एक बार तो चित्तौड़-गढ़ चला जाऊँ (फिर बाद में जाना हो या न हो)।" (इस प्रकार का दृढ़ संकल्प कर) भ्रमर (रूप रत्नसेन) राज मन्दिर में आया जहाँ केतकी (रूप पद्मावती) थी, (किन्तु निःसत्व होकर क्योंकि) उसका जीव (प्राण) तो पारावत (पक्षी) अपने साथ ही ले जा चुका था। शरीर से वह सिंहलद्वीप में स्थित था किन्तु मन से चित्तौड़ गढ़ में (जा बसा था)। उसका हृदय (नागमती के विरह रूपी) नाग दंश से

मानों विषाक्त हो [जाने के कारण (बिसँभर; बेसँभार-वेसँभाल) असंतुलित हो] गया था। नित्य की तरह जितना ही वह स्त्री (पद्मावती) हँस-हँस कर अमृत-वचनों से पूँछती (प्रेम-वार्ता करती), उतना ही (उसका) रस उतरता और (नागमती का विरह जन्य) विष चढ़ता जाता था, (जिसके प्रभाव से) न उसे (कोई अन्य) चिन्ता थी और न (उसका कोई अन्य) मित्र (ही) था ।। ४१ ।।

टिप्पणी :—सगरिउ = सकल, सम्पूर्ण । 'कहि सो संदेस' पंक्ति की तुलना के लिए देखिए छंद सं० ३२/१ । गोहरावा = गोंकार दुःख-कातर होकर बुलाया, देखिए छंद सं० ३८/६ । अलोप = देखिए छंद सं० १०/७ की टिप्पणी । साँखौ = सांख्य, तत्व-निरूपण । हेराना = अदृष्य हो गया, (लोक भाषा का शब्द) । दिनेक = एक दिन । पयाना = प्रयाण (देखिए छंद सं० ११/७) । पिण्ड = घट, शरीर । डसा = दंश, डस लिया गया हो । जेत = यावत्, जितना । केवां = केतकी (कमल के अर्थ में, लक्षणया पद्मावती देखिए छंद सं० ६०/१) अमिय = अमृत । चित = चिन्ता । मित = मित्र ।

अलंकार—छेकानुप्रास, उदाहरण, उत्प्रेक्षा ।। ४१ ।।

बरिस एक तेहि सिंघल रहे[१] । भोग बेरास[२] कीन्ह[३] जस[४] चहे[५] ।।
भा उदास जिउ[६] सुना सँदेसू । सँवरि चला मन चितउर देसू ।।
कँवल उदासी[७] देखा भँवरा । थिर न रहै मालति[८] मन[९] सँवरा ।।
जोगी औ[१०] मन[११] पौन[१२] परावा । कत[१३] ये[१४] रहे[१५] जौं[१६] चित्त उँचावा[१७]
जौं जिय[१८] काढ़ि देइ इन्ह[१९] कोई । जोगी भँवर न आपन होई ।।
तजा कँवल मालति हिअँ[२०] घाली । अब कत[२१] थिर आछै अलि आली ।।

गंध्रपसेनि[22] आए[23] सुनि बारा। कस जिउ भएउ उदास तुम्हारा॥
मैं तुम्हहीं जिउ लावा, दै[24] नैनन्ह[25] महुँ[26] बास।
जौं तुम्ह[27] होहु उदासी[28] तौ, यह काकर कबिलास॥४२॥

पाठान्तर :—[1]भएऊ [2]बिलास [3]करत [4]दिन [5]गएऊ [6]जी [7]उदास जो [8]अब. [9]मालति [10] × [11]भँवरा [12]पवन [13]कित [14]सो [15]रहै [16]जो [17]उठावा [18]पै [19]जिउ [20]हिय [21]कित [22]गंध्रबसेन [23]आव [24]दीन्ह [25]नैंन [26] महँ [27]तुम [28]उदास।

व्याख्या :—वह (पूरे) एक वर्ष तक सिंहलद्वीप में रहा, अपनी इच्छा-नुकूल (सभी) भोग-विलास किया। जैसे ही (पक्षी द्वारा भेजा गया नागमती का) संदेश सुना, उसका मन (सिंहलद्वीप से) उदास (विरक्त) हो गया और (पहिली बातों का) स्मरण कर उसका मन चित्तौड़ देश में चला गया। कमल (पद्मावती) ने भ्रमर (रत्नसेन) को (अपने से) उदासीन (विरक्त) देखा, (और यह भी देखा कि) मन में मालती (नागमती) का स्मरण कर वह स्थिर नहीं (रह पा) रहा है। (उसने विचार किया कि) योगी और मन वायु के सदृश द्रुत-गामी (पलायन करने वाले) होते हैं (इनकी क्या प्रतीति ?; अथवा योगी, मन और पवन पराए होते हैं; अथवा योगी, मन और पवन विचरणशील प्रकृति के होते हैं)। यदि (एक बार ये अपना) चित्त हटा लें तो फिर कहाँ रह सकते हैं ? यदि कोई इनको अपना प्राण (जीव) भी निकाल कर दे दे तो भी योगी और भ्रमर (लक्ष्य प्राप्ति के बाद) अपने नहीं होते हैं। (हर तरह से रत्नसेन की उदासी का परीक्षण कर चुकने के अनन्तर पद्मावती ने अपनी अन्तरंग सखी से अत्यन्त दुःखपूर्ण स्वर में कहा—) "हे सखि ! भ्रमर ने (जब) अपने हृदय में मालती (नागमती) को प्रतिष्ठित कर कमल (पद्मावती) को (अप्रतिष्ठित कर) त्याग दिया, तो अब कैसे स्थिर रह सकेगा ?" (पद्मावती के इस वाक्य को सखी ने उसके पिता से कह सुनाया, और) गंधर्वसेन

(रत्नसेन की एसी मन:स्थिति) सुनकर द्वार पर आए और कहने लगे "तुम्हारा चित्त इतना उदास (विरक्त) क्यों हो गया है ? मैंने तो तुम्हें (सदैव) ही (अपनी) आँखों में निवास देकर (अर्थात आँख की पुतली बनाकर) तुमसे ही जी लगाया और जब तुम ही उदासीन (विरक्त) हो रहे हो तब यह कैलास (सिंहल) किसका होगा" ।। ४२ ।।

टिप्पणी :—बरिस = वर्ष (देखिए छंद सं० २७/१ और ६) । बेरास = विलास । उदासी = विरक्त (देखिए छंद सं० ४२/३) । "जोगी औ मन पौन परावा । कतये रहे जौं चित्त उंचावा"—सूक्ति वचन । परावा = पलायनशील । उँचावा = उच्चावच, उठाना या असंतुलित करना । "जों जिय काढ़ि देइ इन्ह कोई । जोगी भँवर न आपन होई" सूक्ति वचन । थिर = स्थिर । गंध्रपसेनि = गंधर्वसेन (पद्मावती के पिता का नाम) । बारा = द्वार । 'दै नैनन्ह महुँ बास'-मुहावरा । कबिलास = कैलास (देखिए छंद सं० ४/३) ।

अलंकार—अन्योक्ति, छेकानुप्रास ।। ४२ ।।

रत्नसेन प्रस्थान वर्णन

रतनसेनि[1] बिनवा कर जोरी। अस्तुति जोग जीभ कहँ[2] मोरी।।
सहस जीभ जौं होइँ[3] गोसाईं। कहि न जाइ अस्तुति जहँ ताईं।।
काँचु[4] करा[5] तुम्ह[6] कंचन कीन्हा। तब भा रतन जोति तुम्ह[7] दीन्हा।।
गाँग[8] जो निरमर[9] नीर कुलीना। नार मिलें जल होइ न[10] मलीना।।
तस हौं अहा मलीनी करा[11]। मिलेउँ[12] आइ तुम्ह भा निरमरा[13]।।
मान[14] समुँद[15] मिला होइ सोती। पाप हरा निरमर[16] भै[17] जोती[18]।।
तुम्ह मनि[19] आएउँ सिंघल पुरी। तुम्ह तें चढ़ेउँ[22] राज औ कुरी।।
सात समुँद तुम्ह[22] राजा, सरि न पाव कोइ घाट[24]।
सबै आइ सिर नावहिं, जहँ तुम्हार[25] है[26] पाट।।४३।।

पाठान्तर—[1]रतनसेन [2]नहि [3]होंहि [4]काँच [5]रहा [6-7]तुम [8]गंग [9]निरमल [10]× [11]कला [12]मिला [13]निरमला [14]पानि [15]समुद्र [16]निरमल [17]भा [18]मोती [19]मन [20]आवा [21]तै [22]चढ़ा [23]तुम [24]खाट [25]तुम [26]साजा।

व्याख्या—रत्नसेन ने हाथ जोड़कर विनती की—"मेरी जिह्वा (आपकी) स्तुति के योग्य कहाँ? हे महाराज! यदि सहस्र जिह्वाएँ भी हों तब भी (आपके शौर्य, सम्पत्ति और उदारता की) जहाँ तक स्तुति होनी चाहिए, नहीं कही जा सकती। तुमने (मुझ) काँच के टुकड़े को कंचन (में परिवर्तित) कर दिया, (और रत्नसेन जो मेरा नाम था उसे) जब ज्योति (पद्मावती) दी तभी

(जाकर) मैं (वस्तुतः) रत्न (अन्वर्थनामा) हुआ। गंगा का जो निर्मल और कुलीन जल है, उसमें नाले का जल मिल जाने से वह मलिन नहीं होता उसी प्रकार मैं (भी जो) मलिन कला का था, तुमसे आकर मिला और स्वयं निर्मल कला का हो गया। जल का एक स्रोत होकर मैं (तुझ) मान-समुद्र से (आ) मिला, (जिसने मेरा) पाप हर लिया और मेरी ज्योति निर्मल हो गई। तुम्हारी मणि (रूप पद्मावती) के लिए मैं सिंहलपुरी आया किन्तु तुमने मुझे राज्य और कुल की प्रतिष्ठा भी दी। तुम सातों समुद्रों के स्वामी हो, कोई भी तुम्हारी समता नहीं कर सकता, (सभी अन्य राजा-महाराजा तुमसे) घट कर ही हैं, (इसीलिए) जहाँ तुम्हारा राज सिंहासन है, वहाँ आ-आकर अपने मस्तक झुकाते हैं" ॥ ४३ ॥

टिप्पणी :—अस्तुति = स्तुति। गोसाईं = गोस्वामी। काँचु करा = काँच का टुकड़ा। रतन = रत्न (रत्नसेन)। जोति = ज्योति (पद्मावती)। गाँग = गंगा। निरमर = निर्मल। कुलीना = उत्तम कुल की। नार = प्रणालिका; नाला। करा = कर दिया। मान समुंद = मानक समुद्र; जिसमें सभी नदियाँ जा मिलती हैं अथवा सम्मान और प्रतिष्ठा का समुद्र। सोती = श्रोत; जल प्रवाह। मनि = मणि (पद्मावती)। कुरी = कुल की प्रतिष्ठा। सरि = सादृश्य, समता। सात समुंद = क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला और मानसर इन सातों समुद्रों को पार करने के बाद ही सिंहलद्वीप पहुँचा जा सकता था (देखिए पद्मावत छंद सं० १४१/४)" सात समुंद असूझ अपारा' और (१४१/८-९) 'खार खीर दधि उदधि सुरा जल पुनि किलकिला अकूत'। सिर नावहिं = मुहावरा; आधिपत्य स्वीकार करना। पाट = सिंहासन (देखिए छंद सं० ४६/६)।

अलंकार—छेकानुप्रास, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त ॥ ४३ ॥

चित्तौड़ आगमन वर्णन

चितउर आइ निअर भा राजा। बहुरा जीति इंद्र अस गाजा ॥
बाजन बाजै[1] होइ अँदोरा। आवहिं हस्ति[2] बहुल[3] औ घोरा ॥
पदुमावति चंडोल बईठी। पुनि गै उलटि सरग सौं डीठी[4] ॥
यह मन अैंठा रहै न सूधा[5]। बिपति न सँवरै सँपतिहिं[6] लुबुधा[7] ॥
सहस बरिख[8] दुख जरै[9] जो कोई। घरी एक सुख बिसरै सोई ॥
जोगिन्ह[10] इहै जानि मन मारा। तउव[11] न मुआ[12] यह[13] मन[14] औपारा[15] ॥
रहै[16] न बाँधा बाँधा जेही। तेलिया मुआ[17] डारु[18] पुनि वेही ॥
मुहमद यह मन अमर है, कहु[19] किमि[20] मारा जाइ ॥
ग्यान[21] सिला[22] सौं[23] जौं[24] घसैं[25], घँसवहि[26] घँसत बिलाइ ॥४४॥

पाठान्तर—[1]बाजहिं [2]बहल [3]हस्ति [4]दीठी [5]सूझा [6]संपति [7]अरुझा [8]बरिस [9]सहै [10]जोगी [11]तौहुँ [12]यह [13]मन [14]मरै [15]अपारा [16]रहा [17]मारि [18]डार [19]केहुँ [20]न [21]ज्ञान [22]मिलै [23]जो [24]एहि [25]घटै [26]घटतहि [27]घटत।

व्याख्या :—(अन्त में) राजा चित्तौड़गढ़ के समीप आ पहुँचा। विजय (श्री प्राप्त) कर लौटा था, इसलिए (उसने) इन्द्र की भाँति गर्जना किया। (विजय के नगाड़ों आदि) वाद्यों के बजने से (चारों ओर) कोलाहल हो रहा था। बहुत से हाथी और घोड़े (साथ में) आ रहे थे। पद्मावती अपने चंडोल (पालकी) में बैठी हुई थी। उसकी दृष्टि पुनः उलट कर आकाश की ओर गई। (ऐश्वर्य को प्राप्त कर) यह मन (गर्व से) ऐंठ जाता है, कभी सीधा

(संतुलित) नहीं रहता है। सम्पत्ति पर (सहज ही) लुब्ध हुआ (अपने अतीत और भावी जीवन की) विपत्तियों का स्मरण (तक) नहीं करता है। यदि कोई सहस्रों वर्षों तक दुःख में जलता रहे, किन्तु एक घड़ी (पल) भर का सुख (पाकर) वही अपने आप को (क्या सब कुछ) भूल जाता है। योगियों ने यही (रहस्य) जानकर (अपने) मन को (सदैव) मारा है, किन्तु तब भी यह मन और पारा कभी न मर सका [अथवा यह औपारा (अपरम्पार-रहस्यमय) मन तब भी नहीं मर सका)। जिसने (इसे) बाँध (वश में कर) भी लिया, उसके वश में भी सहजतः) बँधा नहीं रहता (निकल भागने का यथासंभव बराबर प्रयास करता रहता है), जैसे तेलिया कंद में मृत (पारे) को यदि डाल भी दिया जाय तो वह पुनः तद्वत् (पहले जैसा) हो जाता है। मुहम्मद (जायसी कहता है कि)—"यह मन (तो) अमर है, कहो किस प्रकार मारा जा सकता है ? (हाँ) यदि ज्ञान-शिला से इसे (बराबर) घिसा जाय (तब कहीं जाकर) घिसते-घिसते विलीन (स्थिर) हो सकता है" ।। ४४ ।।

टिप्पणी :—बहुरा = लौटा (देखिए छंद सं० ३०/६)। गाजा = गर्जन किया (देखिए छंद सं० १३/१ और १६/६)। बाजन = वाद्य यन्त्र। अँदोरा = आन्दोलन; कोलाहल। चंडोल = चतुर्दोलक (देखिए छंद सं० २ क/४)। डीठी = दृष्टि। सूधा = सीधा, स्थिर। 'यह मन···लुबुधा'—सूक्ति वचन। 'सहस बरिख······सोई'—सूक्ति वचन। तुलना के लिए देखिए पद्मावत ७०/६ 'एहि भूठी माया मन भूला'। तेलिया = तैलकन्द; पारे को मार कर बाँधने के निमित्त प्रयोग किया जाने वाला एक विशेष प्रकार का विष। 'मुहमद यह मन अमर······जाइ' की तुलना के लिए (देखिए पद्मावत छंद सं० ७०/७) "यह मन कठिन मरै नहिं मारा। जार न देख, देख पै चारा।।" और "चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्" (गीता अ० ६/३४)। सिला = शिला।

घँसतहि = घर्ष; घिसना, कसना। बिलाइ = विलीन, स्थिर। देखिए गीता ६/३५ "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते"।

अलंकार—छेकानुप्रास, श्लेष, पुनरुक्ति, वृत्यनुप्रास ॥ ४४ ॥

नगमती कहँ अगम जनावा। गै[1] सो[2] तपनि बरखा[3] रितु[4] आवा ॥
अही[5] जो मुई[6] नागिनि जसि तचा[7]। जिउ पाएँ तन महँ[8] भै[9] सँचा[10] ॥
सब दुख जनु[11] कँचुली[12] गा छूटी। होइ निसरी जनु बीर बहूटी ॥
जस[13] भुइँ दहि असाढ़ पलुहाई। परहिं बुंद[14] औ सोंध[15] बसाई ॥
ओहि भाँति पलुही[16] सुख बारी। उठे[17] करिल नव[18] कोंप सँवारी ॥
हुलसी[19] गँग जस बाढ़ैं[20] लेई। जोबन लाग तरंगैं[21] देई ॥
काम धनुक सर दै[22] भै[23] ठाढ़ी। भागेउ बिरह रही[24] जिसु[25] डाढ़ी ॥

पूँछहि सखी सहेली[26], हिरदै[27] देखि अनंद।
आजु बदन तुव[28] निरमल, कहाँ[29] उवा है[30] चंद ॥४५॥

पाठान्तर—[1]गई [2]× [3]बरषा [4]जनु [5]रही [6]मुइ [7]तुचा [8]के [9]भइ [10]सुचा [11]जस [12]कँचुरि [13]जसि [14]बूँद [15]सोंधि [16]पलुहि [17]उठी [18]नइ [19]हुलसि [20]बाढ़िहि [21]हिलोरैं [22]लेइ [23]भइ [24]रहा [25]जो [26]सहेलरी [27]हिरदय [28]तोर [29]अहै [30]जस।

व्याख्या—(इधर) नागमती को राजा (रत्नसेन) के आगमन का पूर्वाभास हो गया। (उसकी) वह (विरहजन्य) ऊष्मा जाती रही और (प्रिय-मिलन की सुहावनी) वर्षा ऋतु आ गई। उसकी जो त्वचा नागिन की मृत-त्वचा जैसी हो रही थी, वही शरीर में प्राण आ जाने पर वास्तविक (सजीव)

हो उठीं। उसका सारा दुःख मानों केंचुल की तरह छूट गया। वह (वियोग सन्ताप के बाद जीवन से ग्रारक्त हुई) मानों बीर बहूटी होकर निकली। जिस प्रकार भूमि (ग्रीष्म की ऊष्मा में) दग्ध होकर ग्राषाढ़ में पुनः पलुहाती (हरी भरी हो जाती) है, (जल की) बूंदे पड़ती हैं ग्रौर (उसमें से एक विशेष प्रकार की) सोंधी बास (गन्ध) निकलने लगती है, उसी प्रकार (नागमती के) सुख को बाटिका पलुह उठी [ग्रथवा (बारी) वह बाला नागमती (प्रिय मिलन के भावी सुख की कल्पना करहरी भरी) प्रसन्नवदना हो उठी] ग्रौर (उसमें) करीलों ने भी नई कोंपले धारण कर लीं (ग्रथवा जिस प्रकार करीलों में नई कोंपलें फूट निकलती हैं उसी प्रकार वह नागमती भी सँवर उठी), उमँगी हुई गंगा में जैसे बाढ़ ग्राती है उसी प्रकार उसका यौवन (भी) तरंगायित हो उठा। काम के धनुष पर शर सन्धान कर वह खड़ी हो गई (जिसे देखकर) वह विरह जिससे वह दग्ध थी, भाग निकला। उसके हार्दिक उल्लास को देखकर (उसकी) सखी-सहेलियाँ पूछने लगीं—"ग्राज तेरा मुख निर्मल (कान्तिमान) है, भला बता तो) यह चन्द्र ग्राज कहाँ (किस प्रकार) उदित हुग्रा है?" ।।४५।।

टिप्पणी—ग्रगम = ग्रागमन। नागमती को शुभ शकुन होना—देखिये मानस, सभा सं० ७८६—'प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि बाम ग्रंग जनु कहि देहीं ।।' मुई = मृता (लक्षणया मृतप्राया)। तचा = त्वक्; त्वचा। सँचा = सत्य, वास्तविक। कँचुली = कंचुलिका केंचुल। बीर बहूटी—देखिए छन्द सं० १४/३ ग्रौर ६/२। सोंध = सुगन्ध, ग्रीष्म की ऊष्मा से संतप्त पृथ्वी पर ग्राषाढ़ की प्रथम वर्षा होने से जो एक विशेष प्रकार की सुगन्ध निकलती है। करील = वृक्ष विशेष जो गर्मी में निष्पत्र हो जाता है। कोंप = कुड्मल; किसलय, कोंपल। तरंगै = तरंगायित। धनुक = धनुष। सर = शर, बाण। सहेली, सहेटिका, सहकेलिका (साथ खेलने वाली)। ग्रनंद = ग्रानंद। बदन = वदन (बवयोरभेदः)। संयोग श्रृङ्गार रस।

ग्रलंकार—उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, उपमा, रूपक, छेकानुप्रास ।। ४५ ।।

अब लगि सखी[१] पवन हा[२] ताता । आजु लाग मोहि सीतल[३] गाता ॥
महि हुलसै जस पावस छाँहाँ । तस हुलास[४] उपना[५] जिअ[६] माहाँ ॥
दसौं[७] दाउँ[८] कै गा जो दसहरा । पलटा सोइ नाउँ[९] लै[१०] महरा ॥
अब जोबन गंगा होइ बाढ़ा । औटन घटन[११] मारि सब काढ़ा ॥
हरिअर सब देखौं संसारू[१२] । नए चार जानहुँ[१३] औतारू[१४] ॥
भागेउ बिरह करत जो डाहू[१५] । भा मुख चंद छूटिगा राहू ॥
लहकहिं[१६] नैंन बाँह हिय[१७] खिला[१८] । को[१९] दहुँ[२०] हितू[२१] आइ[२२] चह[२३] मिला[२४] ॥

कहतहिं बात सखिन्ह सौं, ततखन आवा भाँट ।
राजा आइ निअर भा, मँदिर बिछावहु पाट ॥४६॥

पाठान्तर—[१]रहा [२]सखि [३]सीअर [४]उपना [५]हुलास [६]मन [७]दसवँ [८]दांव [९]नांव [१०]लेइ [११]कठिन [१२]संसारा [१३]जनु भा [१४]अवतारा [१५]दाहू [१६]पलुहे [१७]× [१८]हुलसाहीं [१९]कोउ [२०]× [२१]हितु [२२]आवै [२३]जाहि [२४]मिलाहीं ।

व्याख्या—(सखियों के प्रश्न का उत्तर देती हुई नागमती बोली—) "हे सखियों ! अब तक (जो) पवन तप्त (दाहक) था, वह आज मेरे शरीर में शीतल लग रहा है । जिस प्रकार वर्षा ऋतु की (छत्र) छाया में पृथ्वी उल्लसित हो उठती है उसी प्रकार का उल्लास (आनन्द मेरे) हृदय में उत्पन्न हो रहा है । (सुरति का दसों)दांव करके जो दशहरा (के दिन) गया था (ऐसा लगता है संभवतः) वही (महरा ससुर का नाम चित्रसेन अर्थात्) विचित्र सेना लेकर वापिस आ रहा है (अथवा विरह की दशम् अवस्था-मरण का दाँव चलकर जो दशहरा गया था, वही नाम-दशहरा मेरा महरा-स्वामी वापस लेकर आया है—नागमती के बिरह से सम्बद्ध बारहमासे में प्रथम आषाढ़-विषयक छन्द है) । अब यौवन (मेरे भीतर) गंगा होकर बढ़ आया है और कुछ भी (शारीरिक)

औटन (तपन) और घटन (कृशता) थी, उन सबको उसने मार कर (हठात् बाहर) निकाल दिया है। (मैं अब) सम्पूर्ण जगत हरा-भरा देख रही हूँ, मानों नए ढंग से अवतार हुआ हो (या तो संसार का या मेरा ही)। वह विरह भाग गया, जो मुझे दग्ध कर रहा था। (वह विरह रूपी) राहु (ग्रहण) छूट गया जिससे मेरा मुख (पुनः) चन्द्रमा के समान (उदित) हो गया है। नेत्र और भुजाएँ फड़क रही हैं और हृदय प्रफुल्लित हो रहा है, (इन शुभ-शकुनों के लक्षणों से लगता है कि) जैसे कोई अपना हितू आकर मिला चाहता हो।" (नागमती) सखियों से यह बात कह ही रही थी कि उसी क्षण (राजा रत्नसेन का) भाँट आया (और उसने यह सूचना दी कि) "राजा (सिंहलद्वीप से वापस) आकर (राजधानी के बिल्कुल) निकट पहुँच गया है (अतएव अविलम्ब) राज-मन्दिर में सिंहासन बिछाओ" ॥४६॥

टिप्पणी—ताता=तप्त। हुलास=उल्लास। दसौं दाउँ=विरह की दशम् स्थिति, मरण। दसहरा=दशमी का दिन (देखिए चढा आषाढ़··· छंद सं० १३/१)। पलटा=परिवर्तित हुआ। नाउँ लै महरा= पद्मावती के ससुर का नाम चित्रसेन अर्थात् विचित्र सेना लेकर। औटन=आवर्तन। लहकहिं=लोकभाषा का शब्द; लहकना, फड़कना। हितू=हितैषी, प्रिय-स्वजन। भाँट=भट्ट; चारण (अंग रक्षक)। पाट=पट्ट, सिंहासन (देखिए छन्द सं० ४३/६।

अलंकार—दृष्टान्त, गूढ़ोक्ति, उपमा, रूपक, छेकानुप्रास ॥४६॥

सुनतहि[1] खिन[2] राजा कर नाऊँ। भा अनंद[3] सब ठाँवहिं ठाऊँ॥
पलटा कै[4] पुरखारथ[5] राजा। जस असाढ़ आवै दर साजा॥
देखि[6] छत्र भई जग छाहाँ। हस्ति मेघ ओनए जग माहाँ॥
सैन[7] पूरि आए[8] घन घोरा। रहस चाउ[9] बरिसै[10] चहुँ ओरा॥
धरति सरग अब होइ मेरावा। भरिअहि[11] पोखरि[12] ताल तलावा॥

लहकि[13] उठा[14] सब[15] भुमिया[16] नामा। ठाँवहिं ठाँव दूब अस जामा॥
दादुर मोर कोकिला बोले। हते[17] अलोप जीभ सब खोले॥
भै[18] असवार परथमै[19], मिलै चले सब भाइ[20]।
नदी अठारह गंडा, मिलीं समुँद कहँ जाइ॥४७॥

पाठान्तर :—[1]सुनि तेहि[2] खन [3]हुलास [4]जनु [5]बरषा ऋतु [6]देखि सो [7]सेन [8]आई [9]चाव [10]बरसे [11]भरीं [12]सरित औ [13]उठी [14]लहकि [15]महि [16]सुनतहि [17]हुत जो [18] होइ [19]जो प्रथमै [20]धाइ।

व्याख्या :—राजा (रत्नसेन) का नाम (और उसका आगमन) सुनते ही उसी क्षण स्थान-स्थान पर सर्वत्र आनन्द छा गया। राजा पुरुषार्थ करके उसी प्रकार लौट रहा था जिस प्रकार (आकाश में) आषाढ़ (का महीना मेघों का) दल सजा कर आता है। (उसका) राजछत्र देखकर (सारे) संसार में (शीतल) छाया (सी) हो गई। उसके हस्ती (और वर्षा कालीन) मेघ संसार में उमड़ पड़े थे। (इधर पृथ्वी पर) उसके सैनिक छा रहे थे और उधर आकाश में भयावह बादल। चारों ओर (पृथ्वी से आकाश तक) हर्ष और उमंग बरस रहा था, (कि) अब धरती और आकाश का सम्मिलन होगा और पोखर, ताल और तालाब भर जाँएगें। (उस समय) भूम्य (भूमि से सम्बद्ध) नाम का समस्त (वनस्पति समुदाय) लहक उठा। स्थान-स्थान पर दूर्वा (घास विशेष) सी जम आई। मेढ़क मयूर, कोकिला जो (अभी तक ग्रीष्म ऋतु के कारण) अदृष्ट थे, सबने अपनी-अपनी जिह्वाएँ खोलीं और (अपने-अपने स्वर में आनन्द मग्न हो) बोल उठे। सर्वप्रथम उसके सभी बन्धु बान्धव (अपने-अपने वाहनों पर) सवार होकर (स्वागत रूप में) उससे मिलने चले, जिस प्रकारअठारह गंडे नदियाँ (वर्षाकाल में) समुद्र से मिलने के लिए जाती हैं॥ ४७॥

टिप्पणी :—खिन = क्षण (देखिए छंद सं० ११/५)। पुरखारथ = पुरुषार्थ। दर = दल। हस्ति = हाथी, हस्त नक्षत्र। सेन = सैन्य, समूह। घन = बादल, घने। रहस = हर्ष (देखिए छं० सं० १/६)। पोखरि = पुष्कर। तलावा = तलैया, लोक भाषा का शब्द। भुमिया = भूम्य। दूब = दूर्वा (घास विशेष)। अलोप = अालुप्त; अदृष्ट (देखिए छं० सं० १०/७)। जीभ = जिह्वा। असवार = सवार होना (लोक भाषा का शब्द)। परथमै = प्रथमेव। भाइ = भ्रातृ। अठारह = अष्टादश। गंडा = गण्डा, चार का समूह।

अलंकार—उपमा उत्प्रेक्षा छेकानुप्रास ॥ ४७ ॥

बाजत गाजत राजा आवा। नगर चहूँ दिसि होइ[1] बधावा ॥
बिहँसि आइ माता कहँ[2] मिला। जनु[3] रामहिं[4] भेंटै[5] कौसिला ॥
साजे मंदिर बंदनवारा। औ[6] बहु[7] होइ[8] मंगला[9] चारा ॥
आवा[10] पदुमावति क[11] बेवानू। नागमती धिकि[12] उठा[13] सो[14] भानू[15] ॥
जनहुँ छाँह महँ धूप देखाई। तैस[16] झार लागी[17] जौं आई[18] ॥
सहि[19] नहिं[20] जाइ सौति[21] कै झारा। दोसरे[22] मंदिर दीन्ह उतारा ॥
भै[23] अहानि[24] चहुँ खंड बखानी। रतनसेनि पदुमावति आनी ॥
पुहुप सुगंध[25] संसार मनि[26], रूप बखानि न जाइ।
हेम सेत औ[27] गौर[28] गाजना[29], जगत बात[30] फिरि[31] आइ[32] ॥४८॥

पाठान्तर :—[1]बाज [2]सौं [3]राम [4]जाइ [5]भेंटी [6]होइ [7]लाग [8]बहु [9]मंगल [10]× [11]कर आव [12]जिउ [13]महँ [14]भा [15]आनू [16]तैसइ [17]लागि [18]आई [19]सही [20]न [21]सवति [22]दूसरे [23]भई [24]उहाँ [25]गंध [26]महँ [27]जनु [28]उघरि [29]गा [30]पात [31]× [32]फहराइ।

व्याख्या :—राजा (रत्नसेन) बाजे-गाजे के साथ (चित्तौड़गढ़ वापस) आया, नगर में चारों ओर (उसके अभिनन्दन में) बधावा (अभ्युदय-सूचक वाद्य-घोष) होने लगा। प्रसन्नवदन वह आकर अपनी माता से मिला, (और माता ने गद्‌गद् होकर उसे इस प्रकार गले से लगा लिया) मानों कौशल्या (चौदह वर्ष का बनवास पूरा कर वापस अयोध्या को लौटे हुए अपने पुत्र) राम को भेंट रही हों। राज-मन्दिर में बन्दनवार सजाए गये और (भाँति-भाँति के) अनेक मंगलाचार होने लगे। पद्मावती का विमान (चंडोल) आया, जो नागमती के लिए सूर्य की भाँति दहक उठा, और जब वह (पद्मावती अपने विमान से बाहर) आई तो मानों छाया में धूप दिखाई पड़ी हो कुछ इस प्रकार की ज्वाला उस (नागमती) को लगने लगी। सपत्नी की ज्वाला सही नहीं जाती (असह्य होती है), इसीलिए उसे दूसरे मन्दिर (प्रासाद) में उतारा गया। यह (घटना) आख्यान हो गई और चारों खण्डों में कही जाने लगी कि रत्नसेन पद्मावती (नाम की एक पद्मिनी रानी) को ले आया है; कि वह पुष्पगन्धा है, लोक मणि है, और उसका रूप (सौन्दर्य) वर्णनातीत है [अथवा संसार में पुष्प की सुगंध, मणि और सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया जाता, क्योंकि वे स्वतः प्रकाशित हो उठते हैं, इसलिए अपने अनुपम सौन्दर्य के कारण पद्मावती यदि आख्यान का विषय बन गई तो कोई आश्चर्य की बात नहीं]। यह वार्ता (आख्यान उत्तर में) हेमकूट (पर्वत से, दक्षिण में) सेतु (बन्ध रामेश्वर) और (पूर्व में) गौड़ (बंगाल से, पश्चिम में) गज़नी तक सारे संसार (विश्व की चारों दिशाओं) में फिर आई ॥ ४८ ॥

टिप्पणी :—बाजत गाजत = नागमती की मनोकामना के अनुकूल ही रत्नसेन का आगमन, शब्दों के प्रति कवि की सतर्कता देखिए छंद सं० १६/६। बधावा = वृद्धि-ज्ञापक, वाद्य विशेष। कौसिला = कौसल्या (राम की माता का नाम)। बन्दनवारा = बंदनमाला, मांगलिक अवसरों पर द्वार को अलंकृत करने की पत्र-माला। बेवानू = बिमान (देखिए छंद सं० २ क/३)।

सेत = सेतु । अहानि = अख्यान, कहानी । सौति = सपत्नी ।
'सहि नहिं जाइ सौति कै झारा'—सूक्ति वचन ।

अलंकार—अन्त्यानुप्रास, उत्प्रेक्षा, छेकानुप्रास, उपमा, अर्थान्तर-न्यास ।। ४८ ।।

[यह छंद आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा संपादित 'जायसी ग्रंथावली' में ही और इसी क्रम में उपलब्ध होता है। देखिए छंद सं० २ क की भूमिका ।]

बैठ सिंघासन लोग जोहारा। निधनी निरगुन दरब बोहारा ।।
अगनित दान निछावरि कीन्हा। मँगतन्ह दान बहुत कै दीन्हा ।।
लेइ के हस्ति महाउत मिले। तुलसी लेइ उपरोहित चले ।।
बेटा भाइ कुँवर जत आवहिं। हँसि हँसि राजा कंठ लगावहिं ।।
नेगी गए मिले अरकाना। पँवरिहिं बाजै घहरि निसाना ।।
मिले कुँवर कापर पहिराए। देइ दरब तिन्ह घरहिं पठाए ।।
सब कै दसा फिरी पुनि दुनी। दान डाँग सब ही जग सुनी ।।
बाजै पाँच सबद निति, सिद्धि बखानहिं भाँट ।
छतिस कूरि, षट दरसन, आइ जुरे ओहि पाट ।।४६ क।।

व्याख्या :—राजा रत्नसेन के सिंहासन पर बैठते ही (चित्तौड़ के सभी) लोगों (नागरिकों) ने (प्रजा जनोचित) जुहार किया। दरिद्र और गुणहीनों ने (प्रचुर मात्रा में) द्रव्य प्राप्त किया। न्यौछावर में अगणित दान किया गया। याचकों को बहुत (सा द्रव्य) दान (स्वरूप) दिया गया। (राजा के स्वागत में अपनी-अपनी प्रथा के अनुकूल) महावत हाथी लेकर मिले और पुरोहित (ब्राह्मण वर्ग के लोग) तुलसीदल लेकर (मिलने के लिए) चले। पुत्र, भ्रातृ और राजकुवँर आदि जितने (भी लोग) आए; राजा सभी को हँसते हुए

(अपने) गले से लगा रहा था। नेग-निछावर लेने वालों के चले जाने के उपरान्त सरदार और उमराव लोग मिलने आये, (जिनके आगमन की सूचना देने वाले) नगाड़े घुमड़-घुमड़ कर पौरी (राजमहल का द्वार) पर बज रहे थे। राजकुमार (लोग) मिले, (उन्हें राजा ने) वस्त्र विशेष पहिनाए और द्रव्य-राशि देकर (राजा ने) उन्हें अपने-अपने घरों को विदा किया। (चित्तौड़ में) सभी को (सामाजिक और आर्थिक) स्थिति पुनः द्विगुणित होकर वापस लौट आई। सारे संसार ने (राजा रत्नसेन के) दान का डंका सुना। (राज-द्वार पर) नित्य पंचधा वाद्यों की ध्वनि होती थी और भट्ट-चारण राजा की सिद्धि (और पुरुषार्थ) का वर्णन करते रहते थे, (जिसे सुनकर) छत्तीसों कुलों के क्षत्री और छहों दर्शनों (के विवेचक ब्राह्मणों) के समूह (राजा रत्नसेन के) इस सिंहासन के (नीचे) सामने आकर एकत्रित हो गए थे।। ४६ क।।

टिप्पणी :—लोग = लोक (नागरिक जन)। जोहारा = जुहार किया (अवहार)। निधनी = निर्धन; दरिद्र। निरगुण = निर्गुण (गुणहीन)। दरब = द्रव्य (धन राशि)। बोहारा = लोक भाषा का शब्द; साफ करना, लूटना। निछावरि = न्योछावर (लोक भाषा का शब्द) मांगलिक अवसरों पर। मंगतन्ह = भिक्षुकों को (लोक भाषा का शब्द)। महाउत = महावत (महान् पुरुषों के समान किन्तु वास्तव में जो महान् न हो)। उपरोहित = पुरोहित। कुँवर = कुमार। नेगी = नेग-न्योछावर से सम्बद्ध प्रजाजन (लोक भाषा का शब्द)। अरकाना = सरदार और उमराव वर्ग। पँवरिहिं = पौली; ड्योढ़ी (लोक भाषा का शब्द), राजद्वार। निसाना = नगाड़ा वाद्य विशेष; ध्वजा। कापर = कर्पट; वस्त्र विशेष। डांग = डंका। पाँच सबद = पंच शब्द (वाद्य = तंत्री, ताल, तुरही, झाँझ, नगाड़ा अथवा पंच वाद्यों का समवेत स्वर—अनहद नाद)। सिद्धि = उपलब्धि; योग साधना की सिद्धि—चरम अवस्था। षट दरसन = षड्दर्शन (सांख्य, न्याय, योग,

वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा आदि ६ आस्तिक दर्शन) या उनकी विवेचना करने वाले ब्राह्मण। छतिस कूरि=छत्तीस (विभिन्न) राजकुलों के क्षत्री अथवा आस्तिक दर्शनों से ३६ का सम्बन्ध रखने वाले नास्तिक दर्शन और उनके विभिन्न मत-मतान्तर। कूरि=देखिए छंद सं० ४३/७। पाट=पट्टक;सिंहासन, देखिए छंद सं० ४३/६ और ४६/६। (इस छंद की अंतिम दो पंक्तियों का हठयोग परक अर्थ भी लिया जा सकता है।)

वीर रस, स्थायी भाव उत्साह; रत्नसेन के दानवीरता की प्रशस्ति है।

अलंकार—छेकानुप्रास, वीप्सा, श्लेष ॥ ४६ क ॥

सब दिन बाजा[१] दान दवाँवाँ[२]। भै[3] निसि नागमती पहँ आवा ॥
नागमती मुख फेरि बईठी। सौंह न करै पुरुख[४] सौं डीठी[५] ॥
ग्रीखम[६] जरत छाँड़ि जो जाई। पावस[७] आव[८]कवन[९]मुख[१०]लाई[११] ॥
जबहिं जरै परबत बन लागे। औ[१२] तेहि[१३] झार पंखि[१४] उड़ि भागे ॥
अब[१५] साखा देखिअ[१६] औ छाँहाँ। कवने[१७] रहस[१८] पसारिअ[१९] बाँहाँ ॥
को नहिं थिरकि[२०] बैठ तेहि डारा। को नहिं करै केलि कुरुआरा[२१] ॥
तूँ जोगी होइगा बैरागी। हौं जरि भई[२२] छार[२३] तोहि लागी ॥

काह हँससि[२४] तूँ मोसौं, किए[२५] जो[२६] और सौं नेहु !
तोहि[२७] मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै[२८] मेंहु ॥४६॥

पाठान्तर—[१]राजा [२]दिग्रावा [३]भइ [४]पुरुष [५]दीठी [६]ग्रीषम [७]सो [८]मुख [९]कौन [१०]देखावै [११]आई [१२]× [१३]उठी [१४]पंखी [१५]जब [१६]देखै [१७]को नहिं [१८]रहसि [१९]पसारै [२०]हरषि [२१]कुरि-हारा [२२]छार [२३]भएउँ [२४]हँसौ [२५]किएउ [२६]× [२७]तुम्ह [२८]बरिसै ।

व्याख्या—(राजद्वार के सामने) सारे दिन दान का दमामा (नगाड़ा) बजता रहा । (इस प्रकार) रात्रि हुई और (राजा) नागमती के पास (उसके कक्ष में) आया । (मानिनी) नागमती (अपना) मुख फेर (उससे विमुख हो) कर बैठ गई । वह सम्मुख पुरुष (पति) से (अपनी) दृष्टि नहीं मिला रही थी । (और न चाहने पर भी एकाएक उपालम्भ के स्वर में बोल उठी—) "जो (किसी को) ग्रीष्म में जलता हुआ छोड़ जाए, वर्षा-काल में वह (उसके पास) कौन-सा मुँह लेकर आता है ? (अर्थात् तू जो मुझे छोड़कर चला गया था, अब किस मुँह से आया है ? भूल गया वे दिन) जब (ग्रीष्म ऋतु की ऊष्मा में) पर्वत और बन (तक) जलने लगे थे और उसकी ज्वाला में (झुलसने के भय से चार दिन का बसेरा करने वाले स्वार्थी पक्षी की तरह) हे पक्षी ! तू भी उड़ कर भाग गया था, तो (फिर) अब (फली हुई) शाखाओं और (हरे-हरे पत्तों की शीतल और घनी) छाया को देखकर तू कौन से आनन्द (स्वार्थ) के लिए (मेरे सामने आकर अपनी) बाँहें पसार रहा है ? (तुझे लज्जा भी नहीं आती ? मैं तो तेरे वियोग की अग्नि में दग्ध होकर वृक्ष की वह अपत डाल मात्र रह गई कि) कोई भी (पक्षी) उसकी डाल पर थिरक कर नहीं बैठा और किसी (भी पक्षी) ने उस पर केलि-कलरव तक नहीं किया । तू तो योगी होकर विरक्त हो गया और मैं तेरे लिए जल कर राख हो गई [अथवा मैं (तोहि लागी) तेरे द्वारा लगाई गई विरह की अग्नि में (जरि) जलकर राख हो गई] । जब तूने किसी अन्य (पद्मिनी कोटि की पद्मावती) से प्रेम कर लिया तो फिर मुझसे

हँस (परिहास) क्यों (कर) रहा है ? (क्योंकि पद्मावती को साथ देखकर तो तेरी हँसी मेरा उपहास मात्र है), तेरे मुख में (दाँतों के रूप में हर्ष की) बिजली चमक रही है, जबकि मेरे मुख पर (रुदन का) मेघ बरस रहा है" ॥ ४६ ॥

टिप्पणी :—दवाँवाँ = दमामा, नगाड़ा; (मढ़यौ दमामा जात क्यौं, कहि चूहे कै चाम—देखिए बिहारी रत्नाकर दोहा सं० १३१)। 'नागमती मुख फेरि'—नागमती का मान वर्णन। थिरकि = स्थिर। कुरुआरा = कलरव। बैरागी = विरक्त। नेहु = स्नेह, प्रेम। बीजुरी = विद्युत। मेहु = मेघ।

'ग्रीखम जरत''' '''बरसै मेहु'— नागमती का उपालम्भ वर्णन।

अलंकार—छेकानुप्रास, सम ॥ ४६ ॥

नागमती तूँ पहिलि बिआही। कान्ह[1] पिरीति[2] डही[3] जसि[4] राही[5] ॥
बहुत[6] दिनन्ह आवै[8] जौं[9] पीऊ। धनि न मिलै धनि पाहन जीऊ ॥
पाहन लोह पोढ़ जग दोऊ। सोउ[10] मिलहिं मन[11] सँवरि[12] बिछोऊ ॥
भलेहि सेत गंगा जल डीठा[13]। जउँन[14] जो स्याम[15] नीर अति मीठा ॥
काह भएउ तन दिन दस डहा[16]। जौं बरखा[17] सिर ऊपर अहा ॥
कोउ केहि पास आस कै हेरा। धनि वह[18] दरस निरास न फेरा ॥
कंठ लाइ कै नारि मनाई। जरो जो वेलि सींचि पलुहाई ॥

फरे सहस साखा होइ, दारिउँ दाख जँभीर।
सबै पंखि मिलि आइ जोहारे, लौटि उहै भै भीर ॥५०॥

पाठान्तर :—[1]कठिन [2]प्रीति [3]दाहै [4]जस [5]दाही [6]बहुतै [7]दिनन [8]आव [9]जो [10]तेउ [11]जौ [12]होइ [13]दीठा [14]जमुन [15]साम [16]दहा [17]बरषा [18]ओहि।

व्याख्या :—(नागमती के उपालम्भ का प्रत्युत्तर देता हुआ राजा बोला) "हे नागमती ! तू मेरी प्रथम विवाहिता है (इसलिए निस्सन्देह मेरे वियोग में उसी प्रकार दग्ध हुई) जिस प्रकार कृष्ण के प्रेम में राधिका दग्ध हुई थी, (किन्तु) यदि बहुत दिनों के बाद (प्रवासी) प्रियतम (वापस घर) आ जाय और (मान के कारण) स्त्री (प्रियतमा) उससे न मिले तो उसका पाषाण हृदय धन्य है (अर्थात् यदि सुबह का भूला शाम को घर वापस आ जाय, तो वह भूला नहीं कहाता, उसी प्रकार यदि तुझे वियोग देकर मैंने कष्ट दिया तो उसका प्रायश्चित्त भी कर रहा हूँ, इसलिए मान का परित्याग कर) । संसार में पत्थर और लोह दोनों ही कठोर (माने जाते) हैं, किन्तु वे भी (अपने) मन में वियोग का स्मरण कर मिल जाते है (लोहा खान में चट्टानों के बीच रहता है, किन्तु बाहर आने पर उससे वियुक्त हो जाता है, पुनः भवन-निर्माण में दोनों साथ ही प्रयुक्त होते हैं) । गंगा का जल भले ही श्वेत दिखाई पड़े, किन्तु यमुना का जल श्याम होने पर भी मीठा अथच पेय होता है (आशय है कि पद्मावती भले ही गौरवर्णा है किन्तु श्यामलवर्णा होकर भी तू मधुरभाषिणी अथच मेरी प्रिय है) । जब वर्षाकाल सिर के ऊपर (निश्चित) था तो ग्रीष्म काल की ऊष्मा में यदि शरीर दस दिन संतप्त हो ही गया तो क्या हुआ ? (अर्थात् जब मिलन हो गया तो वियोग के अल्पकालिक कष्ट का क्या रोना ?) यदि कोई किसी के पास आशान्वित हो देखे तो हे प्रिए ! वह भी (स्वयं) दर्शनीय होता है, (उसे दर्शनों से वंचित कर) निराश नहीं फेरना चाहिए, (इसलिए तुम्हारा मान करना और मुझसे विमुख होना दोनों ही असंगत हैं और अमानवीय भी) ।" (इस प्रकार जिस किसी तरह) राजा ने स्त्री (नागमती) को कण्ठ से लगाकर मनाया (समझाया-बुझाया) और जो (स्त्री) लता (वियोग की अग्नि में जल गई थी, उसे (प्रेम-जल से) सींच कर (पुनः) पल्लवित कर दिया । (फलतः) दाड़िम (दाँत) द्राक्षा (अधर) और जम्भीर (उरोज नागमती के शरीर की) शाखा में सहस्रधा फल उठे । उन सभी पक्षियों ने (जो न जाने कहाँ उड़ चले थे) सम्मिलित रूप में आकर वन्दना की और (उसके जीवन की वाटिका में) वही भीड़ (पुनः) हो गई ॥ ५० ॥

टिप्पणी :—राही = राधिका। पाहन = पाषाण। लोह = लौहा। पोढ़ = प्रौढ़, कठोर। जउँन = यमुना। मीठा = मिष्ठ, मधुर। दिन दस = कुछ दिन (मुहवारा)। "काह भएउ……ग्रहा" सूक्ति-वचन। 'जरी जो बेलि सींचि पलुहाई' तुलना के लिए देखिए छंद स० २३/६। जोहारे = देखिए छंद सं० ४६ क/१।

अलंकार—यमक, वक्रोक्ति, दृष्टान्त, समासोक्ति ॥ ५० ॥

जौं भा मेरु[१] भएउ रँग राता। नागमती हँसि पूँछी बाता ॥
कंत[२] कहहु[३] जो[४] बिदेस[५] लोभाने। कसि[६] धनि मिली भोग कस माने ॥
जौं पदुमावति है[७] सुठि[८] लोनी। मोरे रूप कि सरबरि होनी ॥
जहाँ राधिका अछरिन्ह[९] माहाँ। चन्द्रावलि सरि पूज न छाहाँ ॥
भँवर पुरुख[१०] अस रहै न राखा। तजै दाख महुआ रस चाखा ॥
तजि नागेसरि[११] फूल सोहावा। कँवल बिसैंधे[१२] सौं मन लावा ॥
जौं नहवाइ[१३] भरिअ[१४] अरगजा। तबहुँ[१५] गयंद[१६] धूरि[१७] नहिं तजा ॥
काह कहौं हौं तोसौं, किछौ[१८] न तोरे[१९] भाउ[२०]।
इहाँ बात मुख मोसौं, उहाँ जीउ ओहि ठाँउ[२१] ॥५१॥

पाठान्तर—[१]मेर [२]कहहु [३]कंत [४]ओहि [५]देस [६]कस [७]सुठि [८]होइ [९]गोपिन्ह [१०]पुरुष [११]नागेसर [१२]बिसैंधहि [१३]अन्हवाइ [१४]भरै [१५]तौहुँ [१६] बिसायँध [१७]वह [१८]किछु [१९]हिये तोहि [२०]भाव [२१]ठाँव।

व्याख्या—जब (दोनों में) सम्मिलन हुआ और (दोनों के हृदय में) अनुराग का रंग आरक्त हो उठा, तब नागमती ने (उपयुक्त अवसर देखकर राजा

रत्नसेन से) हँसकर (सहज भाव से) यह बात पूछी—"हे कान्त ! यह तो बताओ जिस कारण तुम (इतने दिनों तक) विदेश में लुभाने पड़े रहे, (सो वहाँ) तुम्हें कैसी स्त्री मिली ? और (तुमने) किस (किस) प्रकार का (आनन्द) भोग किया (कि चित्तौड़ गढ़ आते ही तुम्हें इसकी आवश्यकता पुनः पड़ गई)। यद्यपि पद्मावती (पद्मिनी कोटि की है और) अत्यन्त लावण्यमयी है तो भी रूप (सौंदर्य) में क्या वह मेरे समतुल्य हो सकती है ? (अर्थात् कभी नहीं)। जहाँ अप्सराओं (गोपिकाओं) के मध्य (मानिनी) राधा हो, वहाँ चन्द्रावली (प्रेयसी होकर भी) उसके छाया की समता तक नहीं प्राप्त कर सकती। किन्तु पुरुष तो भ्रमर के समान (ही) होता है, जो रखने पर भी (एक स्थान पर स्थित ही) नहीं रहता है और महुआ (मादक तत्व रूप पद्मावती) का रस चखने के लिए द्राक्षा (रूप नागमती के सौन्दर्य और प्रेम) का परित्याग कर देता है। वह सुन्दर नागकेसर के फूल का परित्याग कर उस बिसायँध (बिस तन्तुओं या विष से युक्त) कमल से मन लगाता है (प्रेम करता है, जैसा कि तुमने किया है)। (यह ठीक भी है क्योंकि) गजेन्द्र को स्नान कराकर यदि अरगजा (से उसका शरीर भर) लगा दिया जाय, तब भी वह (अपनी सहज प्रवृत्ति के कारण) धूल (डालना) नहीं छोड़ता। मैं तुमसे (कहूँ तो) क्या कहूँ ? क्योंकि तेरे हृदय में (मेरे लिए) रंच-मात्र भी (सद्भाव या प्रेम-)भाव नहीं है। यहाँ वाणी के द्वारा मेरे सम्मुख है (अथवा यहाँ आकर मेरी मुख-देखी बात करता है), किन्तु तेरे प्राण तो वहाँ उसी स्थान पर हैं (जहाँ पद्मावती है)" ॥५१॥

टिप्पणी—मेरु = मेल; मिलन, समझौता। बाता = वार्ता; बात। बिदेस विदेश। सुठि = सुष्ठु, अत्यन्त। लोनी = लावण्यमयी, सुन्दर। अछरिन्ह = अप्सराओं के। पूज = करना, पूरा करना। दाख = द्राक्षा। नागेसरि = नागमती और नागकेसर का पुष्प। कँवल = कमल (पद्मिनी)। बिसैंधे = बिस गन्ध युक्त और दुर्गन्धपूर्ण। नहवाइ = स्नापयित्वा; स्नान कराकर। अरगजा = सुगन्धि-विशेष। गयन्द = गजेन्द्र; हाथी। घूरि = धूलि। किछौं = किञ्चिदपि, कुछ भी। भाउ = भाव (प्रेम भाव)।

'भँवर पुरुष अस..........चाखा' —सूक्ति-वचन।
शृङ्गार रस, स्थायी भाव रति।

• अलंकार—छेकानुप्रास, उपमा, समासोक्ति उदाहरण ॥५१॥

कही[1] कथा दुख[2] रैनि बिहानी। भोर[3] भएउ[4] जहँ पदुमिनि रानी॥
भान[5] देख ससि बदन मलीनी[6]। कँवल नैन राते तन[7] खीनी[8]॥
रैनि नखत[9] गनि कीन्ह बिहानू। बिमल[10] भई जस [11]देखे[12]भानू॥
सुरुज[13] हँसा[14] ससि रोइ डफारा। टूटि आँसु नखतन्ह[15] कै[16] मारा॥
रहै न राखै[17] होइ निसाँसी। तहँवहि[18] जाहि[19] जहाँ निसि बासी॥
हौं कै नेहु आनि[20] कुँव[21] मेली। सींचै लाग[22] झुरानीं बेली॥
भए[23] दुइ[24] नैंन[25] रहंट को[26] घरी। भरीं ते ढारीं छूँछीं भरीं॥
सुभर सरोवर हंस जल[27], घटतहि गएउ[28] बिछोइ।
कँवल प्रीति[29] नहिं[30] परिहरै, सूखि पंक बरु होइ॥५२॥

पाठान्तर:—[1]कहि दुख [2]जौ [3]भएउ [4]भोर [5]भानु [6]मलीना [7]तनु [8]खीना [9]नखति [10]बिकल [11]देखा [12]जब [13]सूर [14]हँसै [15]जनु नखतन्ह [16]× [17]राखी [18]तहवाँ [19]जाहु [20]कुआँ [21]महँ [22]लागि [23]नैन [24]रहे [25]होइ [26]क [27]चल [28]गए [29]न [30]प्रीतम।

व्याख्या—(इस प्रकार नागमती ने अपने) दुख की कथा कही और (सारी) रात बीत गई। (जब) प्रातःकाल हुआ (राजा तब कहीं जाकर

वहाँ पहुँचा) जहाँ (उसकी) पद्मिनी रानी (पद्मावती) थी। सूर्य (रत्नसेन) ने देखा कि शशि (पद्मावती) का मुख (रात भर रोते रहने के कारण) मलिन हो चुका था, (उसके) कमल (के समान) नेत्र (रात्रि-जागरण के कारण) लाल थे और शरीर क्षीण हो गया था। सारी रात नक्षत्रों को गिन-गिनकर उसने सवेरा कर दिया था, किन्तु जैसे ही सूर्य (रतनसेन) को (अपने समक्ष आ उपस्थित) देखा, वह निर्मल हो गई। सूर्य (रतनसेन) हँसा और शशि दहाड़ मारकर रो उठी, उसके अश्रु-प्रवाह में मानों नक्षत्रों की माला टूट कर (इधर-उधर) जा गिरी। वह ऐसी निःश्वसित हुई (सिसकियाँ लेने लगी) कि रोकने (धैर्य बँधाने) से भी रुकती न थी। (किसी प्रकार अपने आँसुओं पर नियन्त्रण रख वह बोली) "तू वहीं जा, जहाँ रात भर रहा। मुझसे प्रेम कर और (सिंहलद्वीप से मुझे यहाँ) लाकर (तूने) कुएँ में डाल दिया और पुनः उस सूखी हुई वल्लरी (उस नागमती) को सींचने लगा (अथवा, मुझसे प्रेम किया और अन्य को गले लगाया और अब जब कि मेरी प्रीति-लता सूख चुकी तो आकर सींचने लगा है अर्थात् चाटुकारी करता है)।" उस (पद्मावती) के दोनों नेत्र रहँट की घरिया हो रहे थे, जो भरतीं और ढुलक जातीं और खाली होकर पुनः भरती हैं।

सरोवर के भली भाँति भरे होने पर ही उसके जल में सूर्य (रतनसेन) रहा, और (उसका जल) घटते ही वह उसे छोड़कर चला गया। किन्तु कमलिनी (पद्मिनी) अपनी प्रीति नहीं छोड़ती, भले ही वह सूखकर पंक (मय) क्यों न हो जाय ॥५२॥

टिप्पणी—रैनि = रजनि। भोर = भास्वर, सबेरा। खीनी = क्षीण। बिहान = सबेरा। मारा = माला (आभूषण विशेष)। डफारा = दहाड़ मारकर रोना (देखिए छन्द सं० ३२/६)। तहँवहि = तत्रैव; वहीं। निसाँसी = निःश्वसित हो। कुँव = कूप; कुआँ। रहट = अरघट्ट; कुएं से पानी निकाले का चक्र। घरी घटिका। रहट की घरी; देखिये पद्मावत छन्द सं०—४२/८-९; 'मुहम्मद जीवन जल भरन रहट घरी की रीति। घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम का बीति"। छूँछी =

तुच्छ, खाली । हंस=सूर्य । परिहर=परिह्र, छोड़ना । पंक=कीचड़ । बरु=वरमेव; भले ही । 'तहँवहि जाहि जहाँ निसि बासी'—से कवि पद्मावती को खण्डिता नायिका के रूप में चित्रित करना चाहता है । 'हौं कै नेहु ....झुरानी बेली' के माध्यम से पद्मावती का रतनसेन के प्रति उपालम्भ और नागमती के प्रति सपत्नी-ईर्ष्याभाव का सुन्दर चित्रण हुआ है ।

अलंकार—छेकानुप्रास, अन्योक्ति, रूपक, रूपकातिशयोक्ति ।।५२।।

पदुमावति तूँ[1] जीउ पराना । जिय ते जगत पियार न आना ।।
तूँ जस कँवल बसी हिय माहाँ । हौं होइ अलि बेधा तोहि पाहाँ ।।
मालति करी[2] भँवर जौं पावा[3] । सो तजि आन फूल कित धावा ।।
अनु[4] हौं सिंघल कै पदुमिनी । सरि न पूज जंबू नागिनी ।।
हौं सुगंध निरमलि[5] उजिआरी । वह बिख[6] भरी डरावनि[7] कारी ।।
मोरें[8] बास[9] भँवर संग लागहिं । ओहि देखें[10] मानुस डरि भागहिं ।।
हौं पूरुख[11] कै चितवौं[12] डीठी[13] । जेहिं के जियँ[14] असि[15] अहौं पईठी ।।

ऊँचे ठाँव जो बैठै[16], करै न नीचेहूँ[17] संग ।
जहाँ सो नागिनि हिरगै[18], काह[19] कहिअ[20] सो अंग ।।५३।।

पाठान्तर—[1]तुइ [2]कली [3]भावा [4]मैं [5]निरमल [6]विष [7]डेरावन [8]मोरी [9]बाँस [10]देखत [11]पुरुषन्ह [12]चितवन [13]दीठी [14]जिउ [15]अस [16]बैठे [17]नीचहि [18]हिरकै [19]करिया [20]करै ।

व्याख्या—(रतनसेन ने कहा) "हे पद्मावती ! तू (मेरी) जीव और प्राण है । संसार में जीव से अधिक प्रिय अन्य (दूसरा) कोई नहीं होता है ।

तू (तो) मेरे हृदय (के सरोवर) में कमल की भाँति बसी हुई है और मैं (भी) भ्रमर की भाँति तेरे पास बिद्ध (आबद्ध) हूँ। जो भ्रमर मालती-कलिका को प्राप्त कर ले, वह उसे छोड़कर (भला) अन्य (किसी) फूल के प्रति क्योंकर दौड़ेगा ?" (पद्मावती बोली—) 'निश्चय ही मैं सिंहलद्वीप की पद्मिनी (पद्मावती) हूँ जिसकी समता जम्बूद्वीप की नागिन (श्यामलवर्णा नागमती) नहीं कर सकती, (क्योंकि) मैं सुगन्धमयी, कालुष्यरहित और उज्ज्वल हूँ और वह (नागिन नागमती) विषाक्त, भयावह और काली (श्यामा) है। मेरी सुगन्धि से (वशीभूत) भ्रमर मेरे साथ लगे फिरते हैं, जबकि उसे देखकर (पक्षियों की बात तो दूर रही) मनुष्य भी भयभीत हो भाग जाते हैं। जिसके हृदय में इस प्रकार प्रविष्ट हुई होती हूँ, (जैसे तुम्हारे) उस पुरुष की मैं दृष्टि मात्र देखती हूँ (और देखकर ही उसके अन्तस् की बात जान लेती हूँ)। जो ऊँचे स्थान पर बैठने वाला (अथवा प्रतिष्ठित) होता है वह कभी भी नीच (अप्रतिष्ठित) का साथ नहीं करता, (यदि करता भी है तो दोषी है। उसे ऐसा नहीं करना चाहिए, क्योंकि) जहाँ (जिस अंग से) वह नागिन (नागमती) हिलगती (सटकर लगती) हो, उस (शरीर के) अंग (के विषय में) को क्या कहा जाय (अर्थात् उसकी क्या दुर्दशा होती होगी) ?" ॥५३॥

टिप्पणी—पराना = प्राण। पिआर = प्रियालु; प्रिय। अलि = भ्रमर (देखिए बिहारी रत्नाकर दोहा सं०-३८, 'अली कली ही सौ बंध्यौ, आगैं कौनु हवाल')। करी = कलिका, कली। आन = अन्य। अनु = अव्यय; निश्चय ही, वस्तुतः। पदुमिनी = = कमलिनी, पद्मावती। जम्बू = जामुन, जम्बूद्वीप। नागिनी नागिन, नागमती। 'अनु हौ......नागिनी' पंक्ति में आगामी नागमती-पद्मावती विवाद के मूल सूत्र का परिचय कवि बड़ी सतर्कता और चतुराई से करा देता है। चितवौं = सूक्ष्मता से देखना। पईठी = प्रविष्टा। हिरगै = हिरुक्; हिलगना, हिलकर

लगना, सटना, चिमटना। 'जिय ते जगत पिआर न आना' —सूक्ति वचन। 'ऊँचे ठाँव जो बैठे करै न नीचेहँ संग'—सूक्ति-वचन।

अलंकार—उपमा, रूपक ललितोपमा श्लेष ॥५३॥

पलुही नागमती कै बारी। सोन[1] फूल फूली[2] फुलवारी ॥
जाँवत[3] पंखि अहे[4] सब डहे[5]। ते[6] बहुरे[7] बोलत गहगहे ॥
सारौ[8] सुआ महरि कोकिला। रहसत आइ पपीहा मिला ॥
हारिल भ्रिंग[9] महोख सो आवा[10]। काग कोराहर करहिं[11] सोहावा[12] ॥
भोग बेरास[13] कीन्ह अब[14] फेरा। बासहिं[15] रहसहिं करहिं बसेरा ॥
नाचहिं पंडुक मोर परेवा। निफल[16] न जाइ काहु कै सेवा ॥
होइ उजिआर बैठि[17] जस तपी[18]। खूसट मुँह[19] न देखावहिं[20] छपी[21] ॥
नागमती[22] सब[23] साथ[24] सहेली[25], अपनी[26] बारी माहँ।
फूल चुनहिं फर चूरहिं[27], रहस[28] कोड[29] सुख छाँह ॥५४॥

पाठान्तर :—[1]सोने [2]फूलि [3]जावत [4]रहे [5]दहे [6]सबै [7]पंखि [8]सारिउँ [9]सबद [10]+हावा [11]करि [12]सुख पावा [13]बिलास [14]कै [15]बिहँसहिं [16]बिफल [17]सूर [18]तबै [19]मुख [20]देखावै [21]छपै [22]संग [23]× [24]सहेली [25]नागमती [26]आपनि [27]तूरहिं [28]रहिस [29]कूदि।

432

व्याख्या :—नागमती की वाटिका (पुनः) पल्लवित हो उठी। उसकी पुष्प-वाटिका सुनहले फूलों से फूल उठी है। (ग्रीष्म की ऊष्मा में) दग्ध जितने

भी पक्षी (उड़ चले) थे, वे सभी गद्‌गद् स्वरों में कूजते हुए (पुनः) लौट आए हैं। सारिका (मैना), शुक (तोता), महरी (ग्वालिन पक्षी) और कोकिला के बीच रहसता (चहकता) हुआ पपीहा (भी) आ मिला है। हारिल, भृङ्ग, महोख (आदि पक्षी) भी आ पहुँचे हैं। काग सुहावना कोलाहल करते हैं। (उनके) भोग-विलास ने अब (पुनः) फेरा लगाया, (फलतः) वे सभी (उस वाटिका) में कूजते चहकते और बसेरा करते हैं। पण्डुक, मयूर पारावत नाचते हैं क्योंकि किसी की सेवा निष्फल नहीं जाती (अर्थात् सभी को फलों का भोग बराबर मिलता है)। जब उजाला (प्रकाश) होता है, तब खूसट (उल्लू) तपस्वी की भाँति (ओट में) बैठकर छिप जाते हैं, (अपना) मुँह (किसी को) नहीं दिखाते हैं। नागमती अपनी फुलवारी को सुखद छाया में सभी (अन्तरंग) सहेलियों के साथ हर्ष (आनन्द) क्रीड़ा करती है (और वे सभी सहेलियाँ) फूलों को चुनती और फलों को तोड़ती हैं।

निन्दा-परक अर्थ—(पद्मावती के प्रति रत्नसेन को अपेक्षाकृत अधिक अनुरक्त देख और सुन कर तो) नागमती की वाटिका पलही (पाले से ग्रस्त) हो उठी। उसकी पुष्प वाटिका तो नहीं फूली, किन्तु वह फूलों वाली (लोक लाज में मिथ्या गर्व से) फूल उठी (जो बन्ध्या होने का लक्षण होता है)। उसमें जितने भी पक्षी थे (वे सभी पद्मावती के कोप में) जल गए और वे, जो बहुत बोलते थे (और बच रहे थे बहेलियों के द्वारा) पकड़ लिए गए। किसने सुए को मार डाला और महरी को कील (मुँह बन्द कर) दिया ? और जब (उसमें) पपहा (घुन) भी आ लगा तो उसका सत्व अब कैसे रहेगा (बचेगा) ? भृङ्ग हार (कर उड़) भागा और (जब) वह महोख (साँड़) भी आ गया [(अथवा पद्मावती का आक्षेप है कि उसकी सपत्नी नागमती) अब प्रिय रत्नसेन की उपेक्षा के कारण अपने साथ किसी वृषभ कोटि के पुरुष को (सोआवा)सुलाने लगी है]। उसके (शृङ्गारिक) हाव-भावों के प्रति काग (दुष्ट-प्रकृति के लोग) तक कोलाहल करते हैं [(अथवा अपनी कोरा) गोद में काग—हीन स्तर के व्यक्ति को ले जाती है और हाथों से (हाव) कामुक शृंगार चेष्टाएँ करती है फलतः) भोगी और विलासी अब उसके यहाँ फेरा करने लगे हैं। वे

उसके यहाँ बसते, रहसते और बसेरा करते हैं। पराडुक रूप (अथवा भोग से पाराडुर हुई) नागमती को अब मयूर जैसा (या मुझ पद्मावती का) पक्षी (रत्नसेन) नहीं चाहिए। किसी से भी सेवित होकर अब वह (नागमती) फल रहित नहीं (रह) जाती (अथवा जिस किसी के द्वारा सेवित होकर अब वह सहज ही फल जाती है)। वह अनमनी होकर (वासना में) दग्ध हुई सी छिपी (कहीं) बैठी रहती है; और अपना खूसट मुँह नहीं दिखाती। (लगता है नागमती) नागिन मर गई है और साथ की सभी सहेलियाँ उसकी अपनी बगीची में (उस पर चढ़ाने के लिए) फूल चुनती हैं और उस (अन्त्येष्टि क्रिया संस्कार) के निमित्त फल (नारियल) फोड़ती हैं (कपाल क्रिया का संकेत है), उसकी हर्ष-क्रीड़ा और सुख मानों छाँह-ग्रस्त हो उठा है ॥ ५४ ॥

टिप्पणी :—पलुही = पल्लविता; पल्लवित हो उठी और प्रालेया; पाला ग्रस्त हो उठी। बारी = वाटिका। सोन फूल = स्वर्ण पुष्प और सो न फूल = सींच दी जाने पर भी उसमें फूल नहीं लगते। फूली = पुष्पित और फूल कर मोटी हो गयी—वंध्या होने का लक्षण। फुलवारी = पुष्प वाटिका और पुष्प बाला। पंखि = पक्षी और अपने पक्ष के लोग। डहे = हरे भरे हो उठे और दग्ध हो गए। बहुरे = लौटे और बहुत अधिक। गहगहे = गद्गद हुए और व्याधों द्वारा ग्रहण कर लिए गए। सारो = सारिका और किसने साल या मार डाला कोकिला = पक्षी विशेष और को किला; मुँह बन्द कर दिया। रहसत = हर्ष में और रह सत; सत्व ही क्यों कर रहे। पपीहा = पप्रीह पक्षी विशेष और पपहा-घुन। हारिल = पक्षी विशेष और हार गया। महोख = पक्षी विशेष और साँड़। सो आवा = वह आया और सोआवा; सुलाने लगी। काग = कौआ और हीन कोटि के लोग। कोराहर = कोलाहल और कोरा हर; गोद ले जाना। करहि = करते हैं और हाथ से ही। सोहावा = सुशोभित

होना और सो हावा; वैसे शृङ्गारिक हाव-भाव। भोग बेरास=भोग-विलास आनन्द और भोगी विलास प्रकृति के लोग। फेरा=लौट आया है और चक्कर लगाना। नार्चहि=नाचते हैं और ना चहि; नहीं चाहिए। पण्डुक =पक्षी विशेष और पाण्डुरोग ग्रस्ता। मोर=मयूर पक्षी विशेष और मेरा। परेवा=पारावत पक्षी विशेष और लक्षणाया रत्नसेन। निफल=निष्फल और फलहीन। सेवा =सेवा कार्य और सेवन की गई। 'निफल न जाइ काहु कै सेवा'—सूक्ति वचन। होइ=होने पर; की भाँति। उजिग्रार=प्रकाश और रक्त के अभाव में सफेद। तपी= तपस्वी और दग्ध हुई। खूसट=उल्लू और हतप्रभ या खिसिग्राया हुग्रा। नागमती=नागमती और नाग मती; सपत्नी नागमती मृता।

छंद में इन पक्षियों की नामावली के माध्यम से कवि ने चमत्कार उत्पन्न किया है—सारिका (मैना), शुक (तोता), महरि, कोकिला, पपीह, हारिल, भृङ्ग, महोख, काक, पण्डुक, मयूर, पारावत। रहस कोड=देखिए छंद सं०-१/६।

छंद का दो अर्थ होगा प्रथम तो रत्नसेन के आगमन के सन्दर्भ में और द्वितीय पद्मावती सपत्नी के कारण।

अलंकार—वृत्यानुप्रास, श्लेष, मुद्रा; गूढोक्ति ॥ ५४ ॥

नागमती पद्मावती विवाद वर्णन

जाही जूही तेहिं फुलवारी । देखि रहस सहि सकी न बारी ॥
दूतिन्ह बात न हिएँ समानी । पदुमावति सौं[1] कहा सो आनी ॥
नागमती फुलवारी[2] बारी । भँवर मिला रस करी[3] सँवारी[4] ॥
सखी साथ सब रहसहिं कूदहिं । औ सिंगार हार जनु[5] गूँदहिं[6] ॥
सहँ[7] तो[8] बकावरि तुम्ह सो[9] लरना[10] । बकुचुन कहौं[11] लहौं[12] जस[13] करना ॥
नागमती नागेसरि रानी[14] । कँवल न आछै अपनी[15] बानी[16] ॥
जस सेवती गुलाल चँबेली[17] । तैसि एक जनि[18] बहौ[19] अकेली ॥

अति[20] जो सुदरसन कूजा, तब[21] सत[22] बरगहि जोग ।
मिला भँवर नागेसरि[24] सेंती[25], दैय[26] दीन्ह[27] सुख भोग ॥५५॥

पाठान्तर ।—[1]पहँ [2]है आपनि [3]करै [4]धमारी [5]सब [6]गूँथहि [7]तुम [8]जो [9]सौं [10]भरना [11]गहै [12]चहै [13]जो [14]नारी [15]आपनि [16]बारी [17]चमेली [18]जनु [19]बहू [20]अलि [21]कित [22]सद + [23]बरगै [24]नागेसरिहि [25]× [26]दीन्ह [27]ओही ।

व्याख्या :—(नागमती की) उस फुलवारी में जाही-जूही (फूली) थी, जिसे देखकर वह बाला अपने हर्ष को न रोक सकी । (अथवा उसके प्रसन्नता को) यह वार्ता (पद्मावती के द्वारा भेजी गई) दूतियों के हृदय में न समा (पच)

सकी और (उन्होंने) आकर पद्मावती के सामने उसे (पूरा और कुछ अपनी तरफ से मिला कर भी) कहा कि "नागमती की वाटिका फूलों वाली हो गई है [अथवा (बारी) बाला नागमती तो (फुलवारी) पुष्पवती हो गई है]। सुन्दर रस-कलिका (नागमती) से भ्रमर (रत्नसेन) मिला हुआ है [अथवा (भ्रमर) रस-लोभी उससे मिला हुआ (उसका ही नहीं अपितु) कलिकाओं का भी भली-भाँति रस-पान कर रहा है]। उस (नागमती) के साथ में सखियाँ हर्षित हो क्रीड़ा करती हैं [अथवा उसके साथ की सब सखियाँ भी आनन्द करती हुई (कामुकतावश) कूद रही हैं] और हरसिंगार के फूलों (को चुनकर) मानों उसके श्रृङ्गार के लिए हार गूँथती हैं [अथवा श्रृङ्गार का अपहरण करने वाले किसी व्यक्ति से (गूँथ) साँठ-गाँठ करती हैं]। वहाँ की बकावली के सामने तो तुम्हारे पुष्पों की लड़ नहीं के बराबर है [अथवा वहाँ की सारी (बकावरि) वाक्यावली तो तुमसे कलह करना है]। करना जैसे फूलों के बकुचे भर कहती (माँगती) हूँ—तो (सहज ही) पा जाती हूँ [अथवा, (तुम्हारे पक्षके बकचुन) वाक्य चुन-चुन कर कहती हूँ किन्तु (प्रत्युत्तर में जैसे ना) निषेध कर दिये जाने का संकेत पाती हूँ, या (प्रत्युत्तर में) करना (भोंपू की तरह का वाद्य विशेष) जैसा कोलाहल पाती हूँ]। रानी नागमती की फुलवारी में नागकेसर का फूल है [अथवा (वह) रानी नागमती (तो तुम्हारे लिए) नागिन के समान है]। वहाँ के कमल (की प्रशंसा) के लिए तो अपनी वाणी ही नहीं [अथवा हे कँवल ! (पद्मावती), वह (नागिन नागमती) अपने कहे या अपने एक (वर्ण) रंग में नहीं है]। सेवती (सेवन्तिका), गुलाल (गुल्लाला) और चमेली (चम्पक-मल्लिका) जितनी मात्रा में और) जैसी वहाँ हैं, वैसी फूलों वाली अकेली वही वाटिका है [अथवा जिस प्रकार से वह कभी गुलाल की और कभी चमेली की सेवा करती हूँ (उससे यही प्रतीत होता है कि अकेलि) पति की काम-केलि के बिना (एक जनि) एकाकी हुई वह अत्यन्त पीड़ित है]। वहाँ (नागमती की वाटिका में) जब सुदर्शन और कूजा (कुब्जक फूलों) की अति (भरमार) हुई तो सद्बरग भी फूल उठा [अथवा जब सुन्दर दर्शन वाला कोई दिखाई पड़ जाता है तो वह (अति कूजा) इतना अधिक कूजने लगती है कि मानों (सत) शत अर्थात् सौ

बरों द्वारा एक साथ (गहि जोग) ग्रहण की जाने योग्य है]। नागकेसर (सी नागमती) के साथ भ्रमर (रत्नसेन) क्या आ मिला, दैव ने (मानों उसे) भोग का सुख दे दिया है [अथवा नागिन सी काली उस नागमती को भ्रमर सदृश काला वर मिला है, दैव ने उसे यही सुख और ऐसा ही भोग दिया है (फिर भी वह गर्वोन्मत्ता है)]" ॥ ५५ ॥

टिप्पणी :—जाही जूही = जाति यूथिका पुष्प विशेष। सहि सकी न = हर्षातिरेक प्रकट हो उठा और दूतियाँ सह न सकीं। बारी बाटिका और बालापन। फुलवारी = प्रफुल्ल और पुष्पवती। भंवर = भ्रमर और रसलोलुप व्यक्ति। करी = कलिका और किया है। सिंगार हार = शृङ्गार के लिए हार या हर-सिंगार का पुष्प और शृङ्गार का हरण करने वाला। गूँदहि = हार गूँथना और रहस्यवार्ता करना। बकावरि = बकावली; पुष्प और वाक्यावली। लरना = लड़ नहीं है (हार के सन्दर्भ में) और कलह करना। बकुचुन = मुचुकन्द पुष्प, बकुचे और वाक्य चयन कर। करना = करणक पुष्प और कर ना; नहीं करने का संकेत या भोंपू जैसा वाद्य विशेष। नागेसरि = नागकेसर पुष्प और नागिन के समान। आछै = अस्ति; है। बानी = वाणी और वर्ण। सेवती = सेवन्तिका पुष्प और सेवा करती है। अकेली = एकाकी अकेलि; केलि के बिना। सुदरसन = सुदर्शन पुष्प, और सुन्दर-दर्शन वाला पुरुष। कूजा = कुब्जक पुष्प और कूजना। सत बरगहि = सदबर्ग पुष्प और सत बर गहि, सौ वरों से ग्रहणीया अथवा सौ बर्र द्वारा मानों काटने योग्य।

छंद में इन पुष्पों की नामावली के माध्यम से कवि ने चमत्कार उत्पन्न किया है—जाही (जाति), जूही (यूथिका), सिंगार हार (हर शृंगार), बकावरि (बकावली), बकुचुन (मुचुकन्द), करना (करणक), नागेसरि (नागकेसर),

कँवल (कमल), सेवती (सेवन्तिका), गुलाल (गुल्लाला), चँवेली (चम्पक + मल्लिका); सुदरसन (सुदर्शन), कूजा (कुब्जक), सतबरग, (सद्बर्ग-विदेशी पुष्प) । 'कहा सो आनी' सूत्र का अर्थ 'आकर उसे कहा' और 'उसे अन्य ही कहा' होगा जिसके कारण पूरे छंद का प्रथम अर्थ वस्तु-स्थिति का वर्णन परक होगा और द्वितीय अर्थ चाटुकारों द्वारा कुछ और ही वर्णन-परक ।

अलंकार—छेकानुप्रास, श्लेष, मुद्रा, वक्रोक्ति, गूढ़ोक्ति ।। ५५ ।।

सुनि पदुमावति रिस न नेवारीं[1] । सखी[2] साथ आई तेहि[3] बारी ।।
दुऔ सवति मिलि पाट बईठीं । हियँ बिरोध मुख बातैं मीठीं ।।
बारी दिस्टि सुरँग सुठि[4] आई । हँसि[5] पदुमावति[6] बात चलाई ।।
बारी सुफल आहि[7] तुम्ह[8] रानी । है लाई पै लाइ न जानी ।।
नागेसरि औ मालति जहाँ । संखदराउ[9] न चाहिअ तहाँ ।।
अहा[10] जो मधुकर कँवल पिरीती[11] । लागेउ[12] आइ[13] करील की[14] रीती[15] ।।
जौ [16] अँबिली[17] बाँकी[18] हिय माहाँ । तेहि[19] न भाव नारँग[20] कै छाहाँ ।।
पहिलें[21] फूल कि[22] दहुँ[23] फर[24], देखिअ[25] हिएँ[26] बिचारि ।
आँब होइ[27] जेहि ठाइँ[28], जांबु लागि[29] रहि[30] आरि[31] ।।५६।।

पाठान्तर—[1]सँभारी [2]सखिन्ह [3]फुल+ [4]सो [5]पदमावति [6]हसि [7]अहै [8]तुम [9]सँगतराव [10]रहा [11]पिरीता [12]लाइउ [13]आनि [14]करीलहि [15]रीता [16]जहँ [17]अमिलीं [18]पाके [19]तहँ [20]नौरंग [21]फूल [22]जस [23]फर [24]जहाँ [25]देखहु [26]हिये [27]लाग [28]बारी [29]काह [30]तेहि [31]बारि ।

व्याख्या :—(दूती के मुख से सपत्नी नागमती के उद्यान की) यह (प्रशस्ति) सुन कर पद्मावती (सपत्नी ईर्ष्या के कारण) अपना क्रोध न रोक सकी। वह (अपनी) सखी के साथ उसी वाटिका में आ पहुँची। दोनों सपत्नियाँ (पद्मावती और नागमती एक साथ) मिलकर (किसी शिला) पट्टक पर बैठीं। (दोनों के) हृदय में यद्यपि (एक दूसरे के प्रति) विरोध (का भाव) था, तथापि (दोनों ही) मुख से मधुर भाषण करती थीं। वह बाटिका पद्मावती की आँखों को सुरंग और अच्छी लगी [अथवा बाटिका को देख पद्मावती की आँखें एकदम लाल हो उठीं तथापि] उसने (ऊपर से) हँसकर बात चलाई—"हे रानी! तुम्हारी वाटिका बहुत फली है [अथवा तुम धन्य हो जो तुम्हारी वाटिका कुआँरी ही फल गई], इसके फल यद्यपि उतार लिए गए हैं (किन्तु वे इतने अधिक हैं कि बाटिका फलों से (उतार) ली गई नहीं जानी जाती [अथवा तुमने वाटिका लगाई तो अवश्य किन्तु तुम्हें लगाना नहीं आया]। जहाँ नागेसरि (नागमती) और मालती (पद्मावती साथ-साथ) हैं, हे सखि! वहाँ (किसी भी प्रकार का) दुराव (छिपाव) नहीं करना चाहिए [अथवा, जहाँ नागकेसर और मालती के पौधे साथ-साथ लगे हों, वहाँ (शंखद्राव) अम्लवेतस का पौधा नहीं लगाना चाहिए]। जो भ्रमर कमल का प्रेमी था वह (यहाँ) आकर करील से (प्रीति की) रीति करने लगा है [अथवा, जो भ्रमर (रत्नसेन) कमल (पद्मावती) का प्रेमी था वह सिंहलद्वीप से यहाँ—जम्बूद्वीप में वापस आकर करील-(नागमती) के साथ परिणय की रीति मात्र निभा रहा है (क्योंकि यहाँ उसे कमल तो मिला ही नहीं)]। और जो हृदय की बाँकी इमली है उसकी तुलना में तो नारंगी का सौन्दर्य भी कुछ नहीं है [अथवा जो तुमने ये (बाँकी) टेढ़ी इमली छा रही है उसमें न मधुर भाव ही है और न कोई रंग, (अथवा इमली को नारंगी के इतना समीप नहीं लगाना चाहिए था कि उस पर उसकी छाया पड़ती रहे अथवा) हृदय में वक्र होने के कारण तुम अनमिली होकर भी रत्नसेन पर तुम छाई हो जब कि न तुममें प्रेम-भाव ही है और न सुन्दर रंग ही)]। पहिले फूल होते हैं कि फल, तुम ही (अपने) हृदय में विचार कर देखो [किन्तु यह वाटिका कितनी अनुपम है कि इसमें तुरन्त फल भी आ गए अथवा, (फूल-सी

मुझ पद्मावती का प्रथम स्थान होना चाहिए या फल-सी तुझ नागमती का—मैं क्या कहूँ ? तुम्हीं अपने आप विचार कर देखो)]। इसकी कहाँ तक प्रशंसा करूँ ? जहाँ आम है वहीं पास ही जामुन की भी बहार है [अथवा, जहाँ आम लगा हुआ है वहीं अड़कर जामुन भी लगी हुई है (यह भी कोई बात हुई)]'' ॥ ५६ ॥

टिप्पणी :—रिस = आमर्ष, क्रोध। नेवारी = निवारण किया। सुरंग = सुन्दर रंग की और क्रोध के कारण रक्त। बारी = बाटिका और बालापन। सुफल = फलयुक्त। लाई = लगाई और फलों को तोड़ लेना। नागेसरि = नागकेसर और नागमती। मालति = मालती और पद्मावती। संखदराउ = शंखद्राव; अम्ल वेतस और सखि दुराउ, हे सखि दुराव। पिरीती = प्रीति करने वाला। करील = वृक्ष विशेष। अँबिली = इमली (वृक्ष विशेष) और अनमिली। बाँकी = वक्र। भाव = रुचिकर लगना और प्रेम भाव। नारंग = नारंगी का वृक्ष और रंग का न होना। छाहाँ = छाया और सामीप्य की बात तो दूर रही ; पहिलें = प्रथम। फर = फल। आँव = आम्र और रस से युक्त पद्मावती। जाँबु = जामुन और खट्टी स्वभाव वाली नागमती। आरि = अड़कर और समीप।

वृक्षों की नामावली इस प्रकार है—करील, इमली, नारंगी, आम्र, जामुन।

'हियँ विरोध मुख बातें मीठी' सूत्र का आशय है यद्यपि 'हृदय में विरोध भाव है किन्तु मुख पर मधुर वार्ता' इसी कारण 'बारी दिस्टि से अन्त तक इस छन्दऔर आगे के अन्य छंदों के दो-दो अर्थ होंगे, प्रथम तो प्रशंसा परक और द्वितीय ईर्ष्या भाव के कारण निन्दापरक।

छंद में कवि ने फूलों के साथ वृक्षों की असमानता के माध्यम से रत्नसेन के सन्दर्भ में पद्मावती और नागमती की असमानता का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है।

अलंकार—छेकानुप्रास, काकु-वक्रोक्ति, श्लेष, अन्योक्ति, मुद्रा, गूढ़ोक्ति, ॥ ५६ ॥

अनु तुम्ह[१] कही नीकि यह सोभा। पै भलि[२] सोइ भँवर जेहि लोभा॥
साँवरि[३] जांबु कस्तुरी[४] चोवा। आँब[५] जौं[६] ऊँच तौ[७] हिरदै[८] रोवाँ॥
तेहि गुन अस भै[९] जाँबु पिआरी। लाई आनि माँझ कै बारी॥
जल बाढ़ै ऊभै[१०] जो आई। हिय[११] बाँकी[१२] अँबिली[१३] सिर[१४] नाई[१५]॥
सो[१६] कस पराई बारी दूखी। तजै[१७] पानि धावहि[१८] मुँह सूखी॥
उठै आगि दुइ डार अभेरा। कौनु[१९] साथ तेहि[२०] बैरी[२१] केरा॥
जो देखी[२२] नागेसरि[२३] बारी। लाग[२४] मरै सब सुग्गा[२५] सारी॥
जेहिं[२६] तरिवर जो[२७] बाढ़ै, रहै सो अपने ठाउँ[२८]।
तजि केसरि[२९] औ कुंदहि[३०], जाउँन[३१] पर अँबराउँ[३२] ॥५७॥

पाठान्तर—[१] तुम [२] फल [३] साम [४] कस्तूरी [५] आँव [६] × [७] हिरदय [८] तेहि [९] भइ [१०] बहि इहाँ [११] है [१२] पाकी [१३] अमिली [१४] जेहि [१५] ठाईं [१६] तु [१७] तजा [१८] धाई [१९] कौन [२०] तहँ [२१] बेरी [२२] देखा [२३] नागेसर [२४] लगे [२५] सूआ [२६] जो [२७] जल [२८] ठाँव [२९] कै सर [३०] कुंडहि [३१] जाइन [३२] अँबराव।

व्याख्या :—(पद्मावती की उपर्युक्त कूट प्रशस्ति के प्रत्युत्तर में नागमती बोली)—"(हे पद्मावती !) निश्चय ही, तुमने जैसी वर्णित की (वाटिका की),

वास्तविक सुन्दरता तो वही है । अथवा जिस प्रकार तुमने मेरा वाटिका वर्णन किया, वह सपत्नी ईर्ष्या-भाव के कारण तुम्हें ही शोभा देता है।, पर सुन्दरता तो वही है जिस पर भ्रमर लुब्ध हो [अथवा, पद्मावती का यह आक्षेप कि कमल प्रेमी भ्रमर इस बाटिका में करील के साथ मात्र रीति का निर्वाह कर रहा है अर्थात् वाटिका सुन्दर कमल से वञ्चित है, के प्रत्युत्तर में नागमती कहती है कि कमल अपने आप में सुन्दर तो होता नहीं, उसकी सुन्दरता तो इसी में निहित है कि अन्य सभी फूलों का परित्याग कर भ्रमर उस पर आसक्त होता है, इसलिए सुन्दर तो वही हुआ जिस पर भ्रमर लुब्ध हो जाय "प्रियेषु सौभाग्य-फला ही चारुता"-कालिदास कृत कुमारसंभव पंचम सर्ग/१, यदि तू मुझे केतकी कहना चाहती है तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि भ्रमर रूप रत्नसेन मुझ पर ही अनुरक्त है, तुझ सी कमलिनी को इस उपेक्षा पर डूब मरना चाहिए] । साँवली (होकर भी) जामुन कस्तूरी (जैसा रस) चुआती है किन्तु आम (का वृक्ष) जो ऊँचा होता (अवश्य) है किन्तु (अपने) हृदय में (रेशों के रूप में) रोता भी तो रहता है (और इसी हीनता से ग्रस्त उस पर हावी हो जाना चाहता है जैसी तू, किन्तु मैं भी कम नहीं जो अड़ी पड़ी हूँ) । अपने इस गुण के कारण जामुन (जम्बूद्वीप निवासिनी-मैं नागमती) इतनी प्यारी हुई (हूँ) कि वाटिका के मध्य में लाकर लगाई गई (हूँ)। जल के बढ़ने पर जहाँ (सरोवर की कमिलिनी) ऊपर आ जाती है (गर्वोन्मता हो उठती है ऐसी तू मुझ नागमती में वक्रता ही देखती) है (जब कि) हृदय की सुन्दर (यह) इमलीं (जल के बढ़ने पर विनम्रता पूर्वक अपना) सिर झुकाये रहती है [अर्थात् हृदय की वक्र मैं नहीं तू ही है। और भी) वह (तुझ सो) कमलिनी पद्मिनी दूसरे की (मेरी) वाटिका देखकर किस प्रकार दुःखी (या दोष निकाल) सकती है जो (सरोवर के सूख जाने पर उसको ही नहीं अपितु उसके) जल (को भी) छोड़ शुष्क मुखी हुई धराशायी हो जाती है (अर्थात् तूने न केवल सिंहलद्वीप ही छोड़ा अपितु उसकी पानी-'पानी गए न ऊबरै मोती मानुस चून' प्रतिष्ठा को भी ताक पर रख यहाँ जम्बूद्वीप तक आई और खिसियाई हुई एक ओर पड़ी है) । जिस (इमली) के दो डालों को अभेर (रगड़) देने से अग्नि प्रज्व-

लित हो उठती हो उसका बेर और केला (अथवा तुझ बैरिन पद्मावती) का कौन सा साथ ? (अर्थात् मुझमें तो प्रेम की ऊष्मा है और तुझमें शीतलता सो मेरा तेरा क्या साथ? तू व्यर्थ ही मेरी समकक्षता चाहती है, अपनी अयोग्यता नहीं देखती) । नागकेसर (नागमती) की (इस) वाटिका को जिसने (भी) देखा वही (स्पर्धा से) मरने लगा क्योंकि (अब मैं क्या कहूँ ?) यहाँ तो सब (ओर) सुग्गे और सारिकाएँ ही (भरी पड़ी) हैं [अथवा , सुग्गा सारी (तोता मैना) जिनको जितना पढ़ा दिया जाय उतना ही आता है अर्थात् हे पद्मावती ! तुम्हारी दूतियों ने जो यहाँ सब ओर भरी पड़ी हैं मुझ नागमती की इस वाटिका को जो देखा तो मारे ईर्ष्या के मरने लगीं और जाकर तुझसे कह मारा जो तू वहाँ से लड़ने चली आयी है] । (इस वाटिका में) जिस वृक्ष के पास जो भी (वृक्ष) बढ़ता है वह अपने स्थान पर ही रहता है (जिससे दूसरों के बढ़ने में रुकावट नहीं हो सकती, और भी) केसर और कुन्द (जैसे फूलों) को छोड़कर जामुन के वृक्ष पर आम्रवृक्ष ही शोभित होता है ? [अर्थात् जामुन सी मुझ नागमती के साथ यहाँ आम्रवृक्ष सा रत्नसेन ही रत्नसेन ही शोभित होता है । बड़े सोच समझकर मैंने इसे लगाया है इसलिए तूने वास्तव में मेरे वाटिका की प्रशंसा की है अथवा, जिस पुरुष वृक्ष से लग कर जो स्त्री बढ़ती है, वह उसके साथ उसी स्थान पर रहती है और] मैं तेरी तरह नहीं कि रत्नसेन (के सरि) के समान किसी (कुन्दहि) कुंद (पुरुष) को देखते ही सब कुछ छोड़कर दूसरे की अमराई में चली जाऊं)]" ।।५७।।

टिप्पणी : पद्मावती के कूट-कथन का उत्तर नागमती द्वारा कूट-शैली में ही वर्णित किया गया है ।

अनु = देखिए छंद सं० ५३/४ । नीक = सुन्दर (लोक भाषा का शब्द) । चोवा = सुगन्धित छाल विशेष । कस्तूरी = कस्तूरी जो हरिण की नाभि में रहता है (देखिए डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित कबीर ग्रन्थावली पृ० सं० १३१, ५३/१ कस्तूरी कुन्डलि बसै मृग ढूंढ़ै बन माँहि) । उँच = उच्च । माँझ = मध्य । ऊभे = ऊपर उठ आना । नाई = नमित; झुका

लेना । दूखी = दुखी होना और दोषारोप करना । पानि = जल और प्रतिष्ठा । सूखी = शुष्क । अभेरा = भेड़ देने से, रगड़ने से । वैरी = बेर और शत्रु । केरा = केला और का। "कौन साथ तेहि बैरी केरा"-सूक्ति वचन । सुग्गा सारी = शुक-सारिका; तोता मैना । केसरि = नागकेसर और के समान । कुन्द = पुष्प विशेष और स्वस्थ पर पुरुष। जाँउन = जामुन और जाँउ न, नहीं जाती ।

नागमती के इस उत्तर में सपत्नी ईर्ष्या भाव मूर्तिमान हो उठा है ।

अलंकार—वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास, श्लेष, अन्योक्ति, गूढ़ोक्ति । ।।५७।।

तुम्ह[1] अँबराँउ[2] लीन्ह का चूरी । काहे भई नींवि[3] बिख[4] मूरी ।।
भई बैरि कत[5] कुटिल कटैली । तेंदू कैथ[6] चाहि बिगसैली[7] ।।
नारँग[8] दाख न तुम्हरी[9] बारी[10] । देखि मरहिं जहँ[11] सुग्गा[12] सारी ।।
अवन[13] सदाफर तुरुँज जँभीरा । कटहर[14] बड़हर[15] लौकी[16] खीरा ।।
कँवल के हिअ[17] रोंवा[18] तौ[19] केसरि । तेहि नहिं[20] सरि पूजै नागेसरि ।।
जहँ केसरि[21] नहिं[22] उबरै[23] पूँछी[24] । बर पाकरि[25] का[26] बोलहिं छूँछी[27] ।।
जो फर[28] देखिअ[29] सोइअ[30] फीका । ताकर[31] काह[32] सराहिअ[33] नीका ।।

रहु अपनी[३४] तैं[३५] बारी, मों सौं जूझु न बाँझ[३६]।
मालति उपम की[३७] पुजै[३८], बन कर खूझा खाझ ॥५८॥

पाठान्तर—[१]तुइँ [२]अँबराव [३]नीम [४]विष [५]कित [६]टेंटी [७]कसैली [८]दारिउँ [९]तोरि [१०] फुलवारी [११]का [१२]सूआ [१३]औ न [१४]लागे [१५]कटहर [१६]बड़हर [१७]हिरदय [१८]भीतर [१९]× [२०]न [२१]कटहर [२२]ऊमर [२३]को [२४]पूछै [२५]पीपर [२६]का [२७]छूछै [२८]फल [२९]देखा [३०]सोई [३१]गरब न [३२]करहिं [३३]जानि मन [३४]आपनि [३५]तू [३६]बाजु [३७]न [३८]पूजै।

व्याख्या—(नागमती द्वारा वैसा ही कूट उत्तर प्राप्त कर पद्मावती पुनः बोली—हे नागमती !) "तुमने बगीचा ही लगाया, (तो फिर इसमें) चोरी (की) क्या (बात) है ? (भला) यह विष की मूल नीम (कहाँ से) क्योंकर (उत्पन्न) हो गई ? [अथवा, मैंने तेरी अमराई से क्या (तोड़ या) चुरा लिया ? (बात करते हुए इस प्रकार) विषैली नीम-सी क्या हो रही है ?] यह कुटिल (गामिनी) और कँटीलीं बेर क्योंकर हुई जो तेंदू और कपित्थ (कैथा) से भी अधिक बढ़ती जा रही है ? [अथवा, कुटिल और (कँटीली-रोमावलियों वाली) हे नागमती! तू मेरी बैरिन क्यों हो रही है ? (रत्नसेन यदि तुझसे विमुख हुआ तो मेरा क्या दोष क्योंकि) बिग-वृक, सैली-शीला अर्थात् हे वृक स्वभाव वाली ! तू तो स्वयं (तेंदू) तीन या दो तक को (चाहि) पाकर अकेली (कैथ) कदर्थ (पीड़ित) कर देने वाली है] । तुम्हारी वाटिका में (वे) नारंग और द्राक्षा (भी) नहीं (जिनको) देखकर ही शुक-सारिकायें मर मिटें (फिर भी उन पक्षियों की कमी नहीं है। अथवा, अरी न तुझमें रंग ही है और न दाख की मादकता ही, या अवस्था विशेष के कारण तुम्हारे शरीर की वाटिका में अब (नारंग) उरोजों और (दाख) अधरों की मादकता भी नहीं रही, जिन्हें देखकर तोता-मैना (छैल-छबीले) ही मर मिटें-तो मैं क्या करूँ ?] और इसमें सदाफर, तुरंज और जँभीरी नींबू भी नहीं, (तथापि) कटहल, बड़हल (के वृक्षों तथा) लौकी

और खीरा (तो पर्याप्त मात्रा में) हैं, (अथवा, अब तेरे तुरंज और जँभीरी नींबू जो हैं भी वे सदैव फलते नहीं, शैथिल्य में कटहल और बड़हल हो रही है और स्वाद में लौकी और खीरा सी फीकी)। कमलिनी (पद्मावती) के हृदय में यदि रोम है तो केसर भी, (इसलिए) नागकेसर (नागी सी हे नागमती ! तू) उसकी समता नहीं कर सकती। जहाँ केसर है वहाँ उदुम्बर (गूलर) की कोई पूँछ नहीं (होती) तो बरगद और पाकड़ (विचारे) व्यर्थ ही क्या बोलें ? [अथवा नागमती जब तुझे तेरे उस वर (रत्नसेन) ने नहीं पूँछा तो मेरे वर (रत्नसेन) को क्षण-भर के लिए प्राप्त करके व्यर्थ में मुझसे ही क्या बकती है]। यहाँ जिस फल को देखो दूसरे फलों की तुलना में) वही फीका पड़ा है तो ऐसी (तुम्हारी इस बाटिका के) सुन्दरता की कहाँ तक प्रशंसा करूँ ? (वह कम ही है अथवा; जो फल देखो वही फीका है तो इसकी किस सुन्दरता की प्रशंसा करूँ ? समझ में ही नहीं आती) हे नागमती ! तुम अपनी वाटिका में रहो (मैं चली), मुझसे व्यर्थ ही मत विवाद करो (क्योंकि मैं क्या, यह तो सभी जानते हैं कि-) वन के खाझ-खूझ (खाद्य-फल) क्या मालती की समता प्राप्त कर सकते हैं ? (अर्थात् कभी नहीं; अथवा हे स्त्री ! तू अपने तक ही रह, हे वन्ध्या ! मुझसे मत लड़, जंगली घास-फूस तू, मालती सी मुझ नागमती की क्या बराबरी करती है ?)" ॥५८॥

टिप्पणी—का चूरी = क्या चोरी है और क्या चुरा या तोड़ लिया ? नींबि = निम्ब वृक्ष विशेष। मूरी = मूल। बैरि = बेर और बैरन। कटैली = कंटक युक्त और रोमावलियों वाली। तेंदू = तिन्दुका, लोक में प्रयुक्त टिन्डा और तीन या दो (व्यक्ति)। कैथ = कपित्थ, कैथा और कदर्थ, पीड़ित करना। चाहि = से भी अधिक और प्राप्त कर। बिगसैली = विकसनशील और वृक (भेड़िया)-शीला। नारंग = नारंगी का वृक्ष और नारंग, रंग रहित। सुग्गा-सारी = शुक सारिका और तोता-मैना जैसी प्रवृत्ति के लोग। अवन = वर्णहीन और अब नहीं। सदाफर = सदाफल (फल विशेष) और सदैव फलते हैं। तुरंज जँभीरा = नींबू विशेष (जो खट्टे होते हैं)

और उरोजद्वय। कटहर = कण्टक फल विशेष। बड़हर = फल विशेष। उँबरै = उदुम्बर (गूलर) और उस वर ने। केसरि = नागकेस रऔर (रत्नसेन) के समान। बर = बटवृक्ष और वर। पाकरि = पाकड़ (वट की जाति का ही एक अन्य वृक्ष) और पा करके। जूझु = युद्ध या कलह करना। बाँझ = व्यर्थ में और वन्ध्या स्त्री। खूझा-खाझ = खाद्य पदार्थ और घास-फूस। छन्द में कवि ने फलों और खाद्यपदार्थों की नामावली इस प्रकार से दी है—आम्र, निम्ब, बदर-फल (बेर) टिण्डा कपित्थ (कैथा), नारंगी, द्राक्षा (अंगूर), सदाफल, तुरुँज और जँभीरी (नींबू), कटहल, बड़हल, लौकी, खीरा उदुम्बर (गूलर), बट, पाकड़ और शेष अन्य खाद्य पदार्थ।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति, वृत्यनुप्रास, श्लेष, छेकानुप्रास, गूढ़ोक्ति, मुद्रा, अन्त्यानुप्रास ।।५८।।

जौं[1] कटहर बड़हर तौ[2] बड़ेरी[3]। तोहि अस[4] नाहिं[5] जो[6] कोका बेरी ।।
स्यामि[7] जानु[8] मोर तुरुँज जँभीरा। करुई नींबि[9] तौ छाँह गँभीरा ।।
नारँग[10] दाख ओहि कहँ राखौं। गलिगलि[11] जाउँ न[12] सौतहिं[13] भाखौं ।।
तोरे कहें होइ मोर काहा। फर[14] बिनु[15] बिरिख[16] कोइ ढेल न बाहा ।।
नवै सदा फर[17] सो[18] नित[19] फरई। दारिँव देखि फाटि हिय मरई ।।
जैफर लौंग सुपारी[20] हारा[21]। मिरिचि होइ जो सहै न पारा[22] ।।
हौं सो पान रँग पूज न कोऊ[23]। बिरह जो जरै चून जरि होऊ[24] ।।

लाजन्ह[२५] बूड़[२६] मरसि नहिं, ऊभि उठावसि माँथ[२७] ।
हौं रानी पिउ राजा, तो कहुँ जोगी नाथ[२८] ॥५६॥

पाठान्तर :—[१]जो [२]× [३]झड़बेरी [४]असि [५]नाहीं [६]× [७]साम [८]जाँबु [९]नीम [१०]नरियर [११]गलगल [१२]सवति [१३]नहिं [१४]फरे [१५]× [१६]बिरिछ [१७]सरदार [१८]सदा [१९]औ [२०]सोपार [२१]छोहारा [२२]झारा [२३]कोई [२४]होई [२५]लाजहिं [२६]बूड़ि [२७]बाँह [२८]नाह ।

व्याख्या—(नागमती बोली—) "यदि कटहल और बड़हल (के वृक्ष मेरी वाटिका में) हैं तो (यह उसकी) श्रेष्ठता है। यह तेरी (वाटिका) जैसी नहीं जो कोका-बेली मात्र (अनुपयोगी) है। मेरे (इन) तुरंज और जंभीरी नींबुओं (का स्वाद और मूल्य) मेरा स्वामी (भली-भाँति) जानता है। नीम कड़ुई (अवश्य) है तो भी इसकी छाया तो गंभीर होती है (अर्थात् वाणी से कटु होकर भी मैं काम ज्वर का शमन कर शीतलता प्रदान करने वाली हूँ)। (अपने) नारंग और द्राक्षा (की मधुरता और मादकता) उसी (एक स्वामी रतनसेन) के लिए रखती हूँ (किसी को न बताती हूँ और न दिखाती ही हूँ), गलगल और जामुन ही सौत को बताती हूँ (अथवा, भले ही गलगल कर नष्ट हो जाऊँ किन्तु उस रहस्य को सपत्नी स्त्री है तो क्या उसे भी नहीं बताती हूँ)। फिर तेरे कहने से मेरा क्या होता है? फल रहित वृक्ष पर (तो) कोई ढेला (कंकड़) नहीं चलाता (अर्थात् मेरी वाटिका यदि फली न होती तो तू ऐसा ईर्ष्यालु भी न होती)। सदा फल नमित (इसीलिए) रहता है क्योंकि वह नित्य फलता है किन्तु दाड़िम (तुझ सी ईर्ष्यालु) उसे (और मुझे) देखकर हृदय फटने से मरे (तो मर जाय)। यहाँ जायफल, लवङ्ग और सुपारी (तक फलते-फलते) हार गए (और उन्हें इतनी अधिक मात्रा में फला देख) यदि कोई सह न सके (और कुदृष्टि रखने की मनोवृत्ति रखे) तो उसके लिए मिर्च भी (यहीं कहीं लगा)

होगा, (अथवा यदि कोई सह न सके तो जलकर मिर्च की भाँति हो जाय)। मैं तो वह पान हूँ जिसका रंग कोई नहीं पा सकता जो इस विरह (हीनता) में जले तो (वह अर्थात् तू भले ही) जलकर चूना हो जाय। तू (कमलिनी-पद्मिनी) लज्जा से डूब नहीं मरती जो (पानी-प्रतिष्ठा से) ऊपर आ (परे हो) कर अपना मस्तक उठाती है। (अरी पद्मावती !) मैं (नागमती ही) रानी हूँ और मेरा (ही) प्रियतम राजा (रत्नसेन) है; तेरे लिए तो (स्वामी के रूप में कोई) नाथ-जोगी (रत्नसेन कभी मिला) था (इसलिए जा और उसी को ढूँढ़)" ॥ ५६ ॥

टिप्पणी :—बड़ेरी = बड़प्पन। कोका बेरी = कोका (कुमुदिनी) बल्लरी। स्यामि = स्वामी। करुई = कटु (कड़वी)। तुरुँज जँभीरा = तुरंज और जंभीरी नीबू और लक्षणया स्तनद्वय। गलि गलि = एक प्रकार का गलगल नींबू (संभवतः चकोत्रा) और गलगल कर। जाउँ न = (मर) जाऊँ किन्तु न और जामुन। बिरिख = वृक्ष। ढेल = अर्ध; ढेला। बाहा = फेंकना या चलाना। "फर बिनु बिरिख कोइ ढेल न बाहा"—सूक्ति वचन। दारिंव = दाड़िम (अनार)। जैफर = जायफल। लौंग = लवङ्ग। सुपारी = पुङ्गीफल। मिरिच = मिर्चा (कुदृष्टि की शान्ति के लिए मिर्चों का प्रयोग किया जाता है)। पान = पत्र विशेष। चून = चूना और चूर्ण; चूर चूर। माँथ = मस्तक।

अलंकार—गूढ़ोक्ति, अर्थान्तरन्यास, श्लेष ॥ ५६ ॥

हौं पदुमिनि[1] मानसर केवा। भँवर मराल करहिं नित[2] सेवा ॥
पूजा जोग दैय[3] हौं[4] गढ़ी। मुनि[5] महेस के माँथे चढ़ी ॥
जानै जगत कँवल कै करी। तोहि असि नाहिं नागिन बिखभरी ॥
तूँ[6] सब लेसि[7] जगत के नागा। कोइल भइसि[8] न छाँड़सि कागा ॥

तूँ भुँजइलि हौं हंस[9] की[10] जोरी[11] । मोहिं तोहिं मोति पोति कै जोरी ।।
कंचन करी रतन नग बना[12] । जहाँ पदारथ सोह न पना[13] ।।
तूँ रे[14] राहु हौं ससि उजिआरी । दिनहिं कि[15] पूजै निसि अँधिआरी ।।
ठाढ़ि होसि जेहि ठाइँ, मसि लागै तेहि ठाउँ[16] ।
तेहि डर राँध न बैठौं, जनि[17] साँवरि होइ जाउँ[18] ।।६०।।

पाठान्तर :—[1]पदमिनी [2]मोरि [3]दई [4]हम्ह [5]औ [6]तुइँ [7]लिए [8]भेस [9]हंसिनि [10]× [11]भोरी [12]बाना [13]आना [14]तो [15]न [16]ठाँव [17]मकु [18]जावँ ।

व्याख्या :—(वाद-विवाद अब व्यक्तिगत स्तर पर उतर आया और पद्मावती बोली—) "मैं पद्मावती (भी तुमसे कम नहीं यदि तुम पान हो तो मैं) मानसरोवर की केतकी (अर्थात् कमलिनी हूँ; केतकी का प्रयोग कमलिनी के संदर्भ में जायसी ने पहिले भी किया है—'आवा भँवर मंदिर जंह केवा' ।) । भ्रमर और हंस मेरी नित्य सेवा करते हैं । दैव ने मुझे पूजन-(में अर्पित होने के) योग्य बनाया है, और मैं योगेन्द्र शिव के मस्तक पर चढ़ी हूँ (अर्थात् तेरा यह कथन सर्वथा असंगत है कि 'तेरा स्वामी कोई योगी रत्नसेन था' क्योंकि मैं वही पद्मिनी हूँ जो योगियों के स्वामी शिव के मस्तक पर विराजती हूँ, रत्नसेन मेरा स्वामी नहीं, मैं उसकी स्वामिनी हूँ जिसके लिए वह योगी बना था) । संसार मुझे कमल की कली के रूप में जानता है, मैं तेरी तरह विष-भरी नागिन नहीं हूँ । तू संसार के (सभी) नागों को (स्वीकार कर) लेती है, (अपने इसी आचरण से) तू कोयल (सी काली) हो गई है किन्तु कागों (कुपात्रों) को भी (स्वार्थ पूर्ति के लिए) नहीं छोड़ती है । तू भुजंगिनी है और मैं हंस की जोड़ी अर्थात् हंसिनी हूँ । मेरी-तेरी (जोड़ी तो वैसी ही है जैसी) मोती और काँच की पोती (गुरिया) की जोड़ी (होती) है । कंचन की कली बनाकर यदि उसमें माणिक्य रत्न लगाया गया हो तो उस (के अंक या मध्य) में जहाँ (मुझ

पद्मावती रूप) हीरा सुशोभित होगा वहाँ (तुझ नागमती रूप) पन्ना (कदापि) नहीं। अरी ! तू राहु है और मैं उज्ज्वल शशि हूँ। (भला) अन्धकारमयी रात्रि क्या दिन की समता (भी) कर सकती है ? तू जहाँ (भी) खड़ी हो जाती है, उसी स्थान में कालिमा (स्याही) लग जाती है, इसी भय से मैं तेरे समीप तक नहीं बैठती कि कहीं साँवली (काली) न हो जाऊँ)" ॥ ६० ॥

टिप्पणी :—केवा = कुमुदिनी (कमलिनी के अर्थ में)। मराल = हंस। दैय = दैव; विधाता। महेस = महेश; योगेन्द्र शिव। भुँजइलि = भुजंगा पक्षी। मोति = मुक्ता। पोति = काँच की मणि। रतन = रत्न और रत्नसेन। पदारथ = हीरा और पद्मावती। पना = पन्ना और नागमती। मसि = स्याही या कालिमा। राँध = समीप। साँवरि = श्यामल-वर्णा या काली।

अलंकार—उपमा, दृष्टान्त, छेकानुप्रास ॥ ६० ॥

कँवल सो कवन[1] सुपारी रोठा। जेहि के हिएँ सहस दुइ[2] कोठा ॥
रहै न झाँपै आपन गटा। सकति[3] उघेलि चाह[4] परगटा ॥
कँवल पत्र दारिवँ[5] तोरि[6] चोली। देखसि[7] सूर देखि[8] हँसि[9] खोली ॥
ऊपर राता भीतर पिअरा। जारौं वहै[10] हरद अस हिअरा ॥
इहाँ भँवर मुख बातन्ह लावसि। उहाँ सुरुज हँसि[11] हँसि तेहि रावसि[12] ॥
सब निसि तपि तपि मरसि पिआसी। भोर भए पावसि पिअ बासी ॥
जल[13] सेजवाँ रोइ रोइ जल[14] भरसी। तूँ मोसौं का सरबरि करसी ॥

सुरुज किरिन तोहि[15] रावै, सरवर लहरिन पूज।
करम बिहून ए दूनौ, कोउ रे धोबि कोउ भूँज[16] ॥६१॥

पाठान्तर—[1]कौन [2]दस [3]सो कित [4]चहै [5]तर [6]दारिउँ [7]देखे [8]देसि [9]है [10]ओहि [11]कहँ [12]वहरावसि [13] × [14]निसि [15]वह- [16]भँवर हिया तोर पावै, धूप देह तोरि भूँज।

व्याख्याः—(पद्मावती के कथन का प्रत्याख्यान करती हुई नागमती बोली—) "कमलिनी ऐसी कौन सुपारी की डली (जैसी ठोस पदार्थ) सी (होती) है जिसके हृदय में सहस्र-दो (सहस्र) कोठे (नुमा छिद्र-दोष) होते हैं (जिनमें वह उतने ही बीजों को धारण करती है, अथवा कमलिनी तो शोक का वन है, जिसमें सुपारी के डले जैसा शुष्क पदार्थ होता है और सहस्र-दो एक दो भी नहीं छिद्र होते हैं—यह सभी जानते हैं—आशय है तू क्या डींग मारती है मैं क्या सभी तुझे अच्छी तरह जानते हैं)। वह अपने (कमल-) गट्टों (के रूप में बीज कोष) को झाँपे (ढँक कर रख) ही नहीं रह पाती और यथाशक्ति उद्‌घाटित (खोल) कर (संसार पर) प्रकटित कर देना चाहती है (अथवा पर-पुरुष के बीज-कोष की चाहना रखती है)। (हे कमलिनी !) दाड़िम सी लाल (अथवा रक्त रंजित या विदीर्ण) पंखुड़ियाँ (ही) तेरी चोली हैं और जैसी ही सूर्य (किसी भी शूर वीर) को देखती है, (बस) देख कर ही (निर्लज्जतापूर्वक) हँस कर उन्हें खोल देती है। ऊपर से तो लाल किन्तु भीतर से पीला वह जो हल्दी के समान (शुष्क और नीरस) तेरा हृदय है उसे जला (मग्न कर) दूँ, (ऐसा कभी-कभी हृदय में आता है)। तू यहाँ (इधर) भ्रमर (रूप प्रिय रत्नसेन) को मुख की (मीठी-मीठी) बातों में लगाती (फँसाती) है और वहाँ (उधर) हँस-हँस कर (निर्लज्जतापूर्वक) सूर्य (किसी हृष्ट पुष्ट) के साथ रमण करती है। तू (इसी कारण तो) सारी रात (जल में) तप-तप (जल-जल) कर प्यासी ही मरती है और प्रातः होने पर बासी प्रिय (सूर्य, रत्नसेन) को पाती है। (और भी तू सारी रात, जल की शैय्या पर (पड़ी) रो-रोकर (आँसुओं के) जल से (उस सेज अर्थात् पुरइन के पत्रों

को) भरती है (ऐसे शील और स्वभाव वाली हे पद्मावती !) तू क्या मुझसे समता करती है ? (क्योंकि एक ओर) सूर्य (अपनी) किरणों से तुझे रमण करता है और (दूसरी ओर) सरोवर (अपनी) लहरियों से (तुझे) पूजता है। (अथवा, जब सरोवर की लहरियों से तेरा पूरा ही नहीं पड़ता है तभी तो सूर्य अपनी तीक्ष्ण किरणों से तुझे रमण करता है), ये दोनों ही हीन कर्म (भाग्य अर्थात् अभागे ही) हैं; (क्योंकि) कोई तो धोबी (हुआ लहरों से रात भर धोता) है और कोई भूँज (भड़भूँजा हुआ तुझे अपनी किरणों से भूनता अथवा भोगता है अर्थात् तू इतनी हतभागिनी है कि तुझे सुहाग तो कोई देता है और भोगता कोई अन्य) है" ॥६१॥

टिप्पणी—रोठा = कमल के मध्य स्थित बीज कोष को वराटक कहते हैं जिसके अन्तर्गत कमलगट्टे भरे रहते हैं, उसी के लिए कवि ने रोठा शब्द का प्रयोग किया है। सहस दुइ = दो सहस्र। कोठा = कोष्ठ, छिद्र। झाँपै = आच्छादित करके रखना। गटा = गट्टा; बीज कोष। सकति = यथा शक्ति उघेलि = उद्घाटित या खोल कर। परगटा = प्रकटित करना और पर (पुरुष) के बीज कोष। पत्र = पत्ता या पंखुड़ी। दारिवँ = दाड़िम सी रक्ताभ और विदीर्ण। सूर = सूर्य और हृष्ट पुष्टि व्यक्ति। राता = रक्ताभ। पिअरा = पीताभ। 'ऊपर राता भीतर पिअरा'—सूक्ति वचन। हरद = हल्दी। रावसि = रमण करती है। तपि तपि = संतप्त होकर। बासी = रात्रि के बाद का या दुर्गन्धपूर्ण। लहरिन—लहरियाँ और लहरि न, लहरियों से भी नहीं। करम बिहून = हीन कर्म के और भाग्यहीन। धोबि = धोने वाला और सुहाग देने वाला। भूँज = भूनने वाला और भोगने वाला। "कोउ रे धोबि कोउ भूँज" लोकाचार है कि धोबिन ऋतुमती कन्या का वस्त्र धोती है, यही उसका सुहागदान हुआ और तब उसका विवाह संस्कार होता है।

अलंकार—अन्योक्ति; श्लेष; वीप्सा; छेकानुप्रास ॥६१॥

अनु[1] हौं कँवल सुरुज कै जोरी। जौं पिअ आपन तौं का चोरी ।।
हौं ओहि आपन दरपन लेखौं। करौं सिंगार भोर उठि[2] देखौं ।।
मोर बिगास ओहिक परगासू। तूं जरि मरसि निहारि अकासू ।।
हौं ओहि सौं वह मो सौं राता। तिमिर बिलाइ होत परभाता ।।
कँवल के हिरदै महँ जौ[3] गटा। हरि हर हार कीन्ह का घटा ।।
जाकर देवस[4] ताहि[5] पै[6] भावा[7]। कारि रैनि कत[8] देखै पावा ।।
तू उँबरी[9] जेहिं भीतर माँखा[10]। चाँटिहि[11] उठे[12] मरन कै[13] पाँखा[14] ।।

धोबिनि[15] धोवै[16] बिख हरै[17], अंब्रित[18] सौं[19]सरि पाव।
जेहि[20] नागिनि डसु[21] सो मरै, लहरि सुरुज कै आव ।।६२।।

पाठान्तर—[1]मैं [2]मुख [3]जो [4]दिवस [5]तेहि [6]पहँ [7]आवा [8]कित [9]ऊमर [10]माखी [11]चाहहि [12]उड़ै [13]के [14] पाँखी [15]वूप न [16]देखहि [17]भरी [18] अमृत [19]सो [20]जोहि [21]डस

व्याख्या—(पद्मावती बोली—"हे नागमती ! तो जो भी कह किन्तु) वास्तव में कमलिनी मैं (ही हूँ और) सूर्य (रत्नसेन) की जोड़ी (प्रिया) हूँ। जब प्रिय अपना है तो उस (के साथ रमण करने) में चोरी क्या ? मैं उसे अपना दर्पण (सदृश) मानती हूँ। प्रातः काल उठ कर (अपना पूरा) शृङ्गार करती हूँ और (सर्वप्रथम उसमें अपनी छवि) देखती हूँ। मेरा विकास (भी तो) उसी का प्रकाश है और (तिमिर-अन्धकार सी काली नागमती) तू आकाश (शून्य में) देख (देख) कर जल मरती है। मैं उस (रत्नसेन) से और वह मुझे (पद्मावती) से अनुरक्त है और प्रभात होते (उस सूर्य रूप रत्नसेन के आते) ही अन्धकार (सदृश तू नागमती) विलीन हो जाती है। कमलिनी के हृदय में जो (कमल-) गट्टा है तो (उसका) क्या घटा (दोष क्योंकि तभी तो) विष्णु और शिव ने उसे (अपने कण्ठ में धारण करने योग्य) हार किया (अथवा हरि

और हर सदृश देवों ने भी हार स्वीकार कर लिया तो तेरा क्या घट गया)। जिसका दिन (से सम्बन्ध होता) है, उसे वही भाता है, काली रजनी में कहीं (कुछ) देखने को (भी मिल) पाता है ? (नागमती) तू (तो) उदुम्बरी (गूलर का फल) है जिसके भीतर मक्खियाँ (माँखा-मक्षिकायें) होती है (और क्या तू नहीं जानती ? कि) चीटियों को मरने के पहिले पंख निकल आते हैं (जो मक्खियों सी हो उठती है अर्थात् हे उदुम्बरी ! अब तेरे भी मरने के दिन निकट है जिस कारण तुझमे माख आभर्ष-क्रोध उत्पन्न हुआ है)। (सरोवर को तूने धोबिन कहा—सो मुझे कोई आपत्ति नहीं है क्यों कि) धोबिन (मुझ कमलिनी को) धोती है और (मेरे मल रूप) विष को दूर करती है जिससे वह अमृत की समता प्राप्त कर सके, (किन्तु) तू (नागमती) नागिन जिसे डस ले वह (वहीं) मर जाता है और उसे सूर्य की (लू लगने जैसी विषाक्त) लहर आती है" ।।६२।।

टिप्पणी—अनु = देखिए छन्द सं० ५३/४ और ५८/१। दरपन = दर्पण। सिंगार = शृङ्गार (देखिए छन्द सं० १/६)। बिगास = विकास। परगासू = प्रकाश। जरि मरसि = जल मरती है। अकासू = आकाश या शून्य। राता = अनुर क्ततिमिर = अन्धकार। बिलाइ = विलीन हो जाता है। परभाता = प्रभात काल। गटा = देखिए छन्द सं० ६१/२। घटा = घट गया या बिगड़ गया अपितु उसका मूल्य बढ़ा ही। उँबरी = उदुम्बरी (गूलर का फल)। माँखा = मक्षिका, मक्खियाँ। चाँटिहि = चींटों के। पाँखा = पक्ष; पंख। "चाँटिहि उठे मरन कै पाँखा"—सूक्ति वचन। अंब्रित = अमृत। "लहरि सुरुज कै आव"—नागिन जिसे डस लेती है उसे लू जैसी विषाक्त लहर या चक्कर आने लगता है, उसके बाद ही वह मर जाता है।

अलंकार—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, सम, समासोक्ति ।।६२।।

फूलु[1] न कँवल भान[2] के[3] उएँ[4]। मैल[5] पानि[6] होइहि[7] जरि छुएँ[8] ॥
भँवर[9] फिरहिं[10] तोरे नैनाहाँ। लुबुध[11] बिसाइँध सब[12] तोहि पाहाँ ॥
मंछ[13] कच्छ दादुर तोहि[14] पासा[15]। बग पंखी[16] निसि[17] बासर[18] बासा[19] ॥
जो[20] जो[21] पंखि पास तोहिं गए। पानी महँ सो बिसइँध भए ॥
सहस बार जौं धोवै कोई। तबहुँ[22] बिसाइँध जाइ न धोई ॥
जौं उजिआर चाँद होइ उई[23]। बदन कलंक डोवँ[24] कै[25] छुई[26] ॥
औ[27] मोहि तोहि निसि दिनकर बीचू। राहु के हाथ[28] चाँद कै मीचू ॥

काह कहौं ओहि पिय[29] कहँ, मोहिं पर[30] धरेसि अँगार[31]।
तेहि के खेल भरोसें, तुइँ जीता[32] मोरि[33] हार[34] ॥६३॥

पाठान्तर :—[1]फूल [2]भानु [3]बिनु [4]ऊए [5]पानी [6]मैल [7]होइ [8]छूए [9]फिरहिं [10]भँवर [11]नीर [12]होइ [13]मच्छ [14]कर [15]बासा [16]अस पंखि [17]बसहि [18]तोहि [19]पासा [20]–[21]जे [22]तौहु [23]ऊआ [24]डोम [25]लेइ [26]छूआ [27]× [28]साथ [29]पिय [30]सिर [31]अंगारि [32]जीती [33]मैं [34]हारि।

(I) पंक्ति सं० ५, ६ और ७ का क्रम-क्रमशः ७, ५ और ६ प्राप्त होता है।

व्याख्या :—(नागमती बोली—) "हे कमलिनी ! सूर्य के उदित होने (मात्र) से (गर्विता हो) मत फूल। (क्योंकि उसके) स्पर्श (मात्र) से ही जल कर (तेरा) पानी (कान्ति और मान-मर्यादा) मलिन हो जाएगा। तेरी आँखों में (न जाने कितने) भ्रमर (रस-लोभी) फिरते (रहते) हैं, वे सभी बिसायँध (बिसतन्तु के गन्ध) पर लुब्ध हुए तेरे समीप (फिरते) हैं। मत्स्य, कच्छप, और दर्दुर (मेंढक जैसे कुपात्र भी उसी सरोवर में) तेरे समीप (रहते)

हैं; बक (बगुले तथा अन्य जल के) पक्षी (भी) दिन-रात (तेरा) बास (अथवा तेरे साथ बसेरा) लेते हैं। जो-जो पक्षी (अब तक) तेरे पास (समीप) गए (हैं); वे (प्रत्येक उस सरोवर के) जल में (ऐसे) बिसायँध (बिस-गंध युक्त) हुए (कि) कोई हजार बार भी धोवे किन्तु फिर भी (उनकी वह) बिसायँध धोई नहीं जा सकती (है)। जब उज्जवल चन्द्रिका की भाँति तू उदित हुई (तभी) तेरा मुख सकलंक (हो गया) है क्योंकि तू (मच्छ, कच्छ, दादुर, बग जैसे) डोम (हीन या अधम कोटि) के (व्यक्ति) द्वारा स्पर्शिता है। और (इसी कारण) मेरे और तेरे मध्य (उतना ही अन्तर है जितना) रात और दिन का अन्तर (होता) है (अथवा निशा में सूर्य-रत्नसेन की मध्यस्थता ही मेरा और तेरा सबसे बड़ा अन्तर है); (फिर यदि तू चन्द्रमा है तो मैं भी राहु हूँ और) राहु के हाथों चन्द्र की मृत्यु होती ही है। मैं उस प्रिय (रत्नसेन) को क्या कहूँ (दोष दूँ क्योंकि तुझे दोष देना भी असंगत ही है) जिसने मुझ पर (तेरी जैसी कर्कशा सपत्नी को लाकर) अंगार (की तरह मानों) रख दिया है। उसके इस खेल (कर्म) के भरोसे (परिणाम-स्वरूप) तूने मेरा हार (कण्ठाभरण) [जीत लिया (अथवा; मैंने मान लिया कि) तू जीत गई और मेरी हार हो गई]" ॥ ६३ ॥

टिप्पणी :—फूलु = प्रफुल्लित हो। मैल = मलिन, गंदा। बिसाइंध = बिसगंध और दुर्गंध। मंछ = मत्स्य; मछलियाँ या मच्छ; कुपात्र। पासा = पार्श्व, समीप। बग = बक; बगुला पक्षी विशेष। बदन = वदन, मुख। डोंवँ कै छुई = डोम (अस्पृश्य जाति से स्पर्श की गई और लक्षणया हीन कोटि के लोगों से संस्पर्शिता। मीचु = मृत्यु; मौत। अँगार = अग्नि खड। भरोसे = विश्वास या के कारण। हार = कण्ठाभरण और खेल की पराजय (देखिए छंद सं० ८/३)।

अलंकार—अन्त्यानुप्रास, वीप्सा, छेकानुप्रास, विरोधाभास ॥ ६३ ॥

तोर अकेल जीतेउँ[1] का[2] हारू। मैं जीता[3] जग केर[4] सिंगारू।
बदन जितेउँ[5] जो ससि उजिआरी। बेनी जितेउँ[6] भुअंगिनि कारी ॥

लोयन[७] जितेउँ[८] मिरिग के नैना। कंठ जितेउँ[९] कोकिल कै बैना॥
भौंह जितेउँ[१०] अर्जुन धनुधारी। गीवँ जितेउँ[११] तँवचूर[१२] पुछारी॥
नासिक जितेउँ[१३] पुहुप तिल सूआ। सूक जितेउँ[१४] बेसरि होइ ऊआ॥
दामिनि जितेउँ[१५] दसन चमकाहीं[१६]। अधर रंग रवि[१७] जितेउँ[१८] सवाहीं[१९]॥
केहरि जीति[२०] लंक मैं लीन्हा। जीति[२१] मरालि चाल ओइ[२२] दीन्हा॥
पुहुप बास मलयागिरि जीतेउँ, परिमल[२३] अंग बसाइ।
तूँ नागिनि मोरि [२४]आसा लुबुधी[२५], मरसि[२६] कि[२७] हिरकौं[२८] जाइ॥६४॥

पाठान्तर :—[१]का [२-३]जीतिउँ [४]कर [५-६]जितिउँ [७]नैनन्ह [८-९-१०-११]जितिउँ [१२]तमचूर [१३-१४-१५]जितिउँ [१६]दमकाहीं [१७]× [१८] जीतिउँ [१९]बिबाहीं [२०-२१]जितिउँ [२२]वै [२३]निरमल [२४]× [२५]लुबुध [२६]डससि [२७]काहु [२८]कहँ।

व्याख्या :—(नागमती द्वारा अपनी पराजय स्वीकार कर लेने पर पद्मावती विजय-गर्व से बोली) "मैं क्या अकेला तेरा हार (कण्ठाभरण) ही जीती हूँ? मैं तो संसार (भर) का शृङ्गार जीत चुकी हूँ (अथवा, मैंने केवल तुझ अकेली ही को नहीं पराजित किया अपितु संसार भर को अपने शृंगार से पराजित किया है)। मुख (की उज्जवलता) से (मैं) चन्द्रमा की उज्जवलता को जीत चुकी हूँ। वेणी (चोटी की कालिमा) से काली सर्पिणी (की कालिमा) को जीत चुकी हूँ। नेत्रों (की चपलता और भोलेपन) से मृग के नेत्रों (की चपलता और भोलेपन) को जीत चुकी हूँ। कण्ठ (वाणी की मधुरता) से कोकिला की वाणी (का माधुर्य) जीत चुकी हूँ। भौहों (के अचूक कटाक्ष) से धनुर्धारी अर्जुन (का लक्ष्यभेद) जीत चुकी हूँ। ग्रीवा (की सुडौलता) से कुक्कुट

(मुर्गा) और मयूर (के ग्रीवा की सुडौलता) को जीत चुकी हूँ। नासिका (के सौन्दर्य) से तिल के फूल और शुक (के सौन्दर्य) को जीत चुकी हूँ। (अजेय) शुक्र को (भी) जीत चुकी हूँ जो (मेरी नासिका का) बेसर (का मोती) होकर उदित हुआ है। दाँतों की चमक से दामिनी (बिजली की चमक) को जीत चुकी हूँ। अधरों (की लालिमा) के रंग से (प्रात: कालीन) सूर्य (की अरुणिमा) को सब ओर से (उसकी सारी सम्पूर्णता में) जीत चुकी हूँ। केसरी (सिंह) को (भी) जीत (चुकी हूँ और जीतने के उपरान्त उससे) कर (दंड के रूप में उसके) कटि (की क्षीणता) ले ली है, (और इसी प्रकार) मराली (हँसिनी) को जीत कर (अपना नियंत्रण रखने के निमित्त) उसे अपनी (सुन्दर) चाल (गति) दे दी है। अंगों में परिमल बसा (लगा) कर पुष्पों की सुबास और मलयागिरि (चन्दन) को भी जीत चुकी हूँ। तू नागिन (नागमती भी) मेरी आशा-लुब्ध हुई (बैठी इसीलिए) मरती (रहती) है कि (कब) जा कर हिलग (लिपट) जाऊँ (किन्तु मैं भी सतर्क हूँ तुझे ऐसा अवसर कभी न दूँगी)" ॥६४॥

टिप्पणी :—सिंगारु = शृङ्गार (देखिए छंद सं० १/६)। बेनी = वेणी; केशविन्यास। भुअंगिनि = भुजंगिनी; नागिन। कारी = काली। लोयन = लोचन, नेत्र। मिरिग = मृग, हरिण। बैना = वाणी। भौंह = भ्रू। गीवँ = ग्रीवा; गला। तँवचूर = ताम्र-चूड़; मुर्गा (पक्षी विशेष)। पुछारी = पिच्छालु; मयूर (देखिए छंद सं० २७/१)। सूआ = शुक; तोता। सूक = शुक्र नक्षत्र। बेसरि = नासिका का आभूषण विशेष (देखिए बिहारी रत्नाकर दोहा सं० २०-'नाक-बास बेसरि लह्यौ बसि मुकुतनु कै संग')। केहरि = केसरी, सिंह (देखिए छंद सं० ३/५)। सबाहीं = सर्वत:, सब प्रकार से। लंक = कटि प्रदेश। मरालि = मराली; हंसिनी। चाल = गति। हिरकौं हिलगना (देखिए छंद सं० ६/८, ५३/६)।

पद्मावती के मुख से कवि द्वारा पद्मावती का शिख-नख वर्णन के व्याज से उसे रूपगर्विता नायिका के रूप में चित्रित किया गया है।

अलंकार :—श्लेष, छेकानुप्रास, अतिशयोक्ति, प्रतीप ॥ ६४ ॥

का तोहि गरब सिंगार पराएँ। अबहीं लेहिं[1] लूसि[2] सब ठाएँ ॥
हौं साँवरि सलोनि[3] सुभ[4] नैना। सेत चीर मुख चात्रिक[5] बैना ॥
नासिक खरग फूल धुव तारा। भौंहैं धनुक गगन को[6] पारा ॥
हीरा दसन सेत औ स्यामा[7]। छपै बिज्जु[8] जौं बिहँसै रामा[9] ॥
बिद्रुम अधर रंग रस राते। जूड़ अमीं[10] अस रबि परभाते[11] ॥
चाल गयंद गरब अति भरी। बिसा[12] लंक नागेसरि[13] करी ॥
साँवरि जहाँ लोनि सुठि नीकी। का गोरी[14] सरबरि करि[15] फीकी ॥
पुहुप बास हौं[16] पवन अधारी, कँवल मोर तरहेल।
जब[17] चाहौं[18] धरि[19] केस[20] ओनावौं[21], तोर मरन मोर खेल ॥६५॥

पाठान्तर : [1]लैहिं [2]लूट [3]सलोन [4]मोर [5]चातक [6]गा [7]सामा [8]बीजु [9]बामा [10]अमिय [11]नहिं ताते [12]बसा [13]नागेसर [14]× [15]तू करसि जो [16]औ [17]× [18]चहौं [19]केस [20]धरि [21]नावौं।

व्याख्या : [सपत्नी पद्मावती के सौंदर्य का तिरस्कार करती हुई नागमती बोली] "(अरी पद्मावती !) पराये श्रृंगार पर तुझे (इतना) गर्व क्यों हो रहा है ? (तुझे तो लज्जा से डूब मरना चाहिए कि तुझमें अपना श्रृंगार तो कोई है ही नहीं, क्योंकि) वे सभी (जिनसे तूने ये सब श्रृंगार चुराये हैं और कहती है कि जीता है) तुझे इसी स्थान पर लूस (नष्ट या मटियामेट) कर (अपने-अपने श्रृंगार) ले लेंगे। साँवली होकर भी मैं लावण्यमयी और सुनयना (अत-

एव सुदर्शना) हूँ। (शरीर पर) श्वेत चीर और मुख में चातक की वाणी (प्रियतम का नाम) धारण करती हूँ। मेरी नासिका खड्ग (सदृश) और (नासिका) फूल (आभूषण विशेष) ध्रुवतारा (सदृश) है। मेरी भौंहें धनुष (सदृश) हैं जिनकी समता आकाश (का इन्द्र) धनुष भी नहीं कर सकता है। मेरे दाँतों की चमक हीरों सदृश श्वेत और (मिस्सी के कारण) श्याम हैं। (यह) रामा (स्त्री नागमती) यदि हँस दे तो बिजली छिप (मन्द पड़) जाय। मेरे विद्रुम (मूँगे जैसे) अधर (सदैव) अनुराग के रंग और रस से अनुरक्त (रक्ताभ) रहते हैं। (इसी कारण) वे अमृत रस की भाँति शीतल और प्रातःकालीन सूर्य की भाँति लाल हैं। मेरी चाल (गति) गजेन्द्र की सी अत्यन्त गर्वीली (शालीनतापूर्ण) है। मेरी कटि बिसा (बर्र) की सी है, मैं नागकेसर की कलिका सी नागमती हूँ। (जहाँ एक ओर यदि) साँवली हूँ तो वहाँ दूसरी ओर अत्यन्त लावण्यमयी और सुन्दरी भी (हूँ), गौरवर्णा किन्तु नीरस (हे पद्मावती तू या तुझ सी) कोई भी क्या कहीं मेरी समता (प्राप्त) कर सकती है ? मैं (नागकेसर) पुष्प की सुगन्धि (सी) हूँ और (सदैव) पवन के आधार पर (जीवित) रहती हूँ। कमलिनी तो मेरी तरहेल (अनुचरी या अधीनस्थ) मात्र है। मैं जब चाहूँ (तब) तेरा केश पकड़ कर अवनमित (नीचे झुका) कर (पटक) दूँ। तेरी मृत्यु तो मेरी क्रीड़ा मात्र है" ॥६५॥

टिप्पणी—गरब = गर्व, घमण्ड। लूसि = लूसना, नष्ट करना, बिध्वंस करना या लूटना (देखिये छंद सं० ३/६)। साँवरि = श्यामल, साँवली। सलोनि = सलावण्यमयी, सुन्दर। सेत = श्वेत (देखिये छंद सं ५/६; ७/५)। चात्रिक बैना = चातक की वाणी अर्थात् प्रियतम का नाम, तुलना कीजिये 'बोलु पपीहा पाँखि' ३६/९ और 'नाऊँ लै महरा' ४६/३। खरग = खड्ग, तलवार (देखिये छंद सं २/७)। धुवतारा = ध्रुवतारक नक्षत्र विशेष। धनुक गगन = इन्द्रधनुष। विद्रुम = मूँगा। राते = रक्ताभ, लाल। बिसा = बसा, बर्र। अमीं = अमृत। परभाते = प्रभात-कालिक। चाल = गति,

(देखिये छंद संख्या ६४/७)। गयंद = देखिये छंद सं ५१/७। अवारी = आश्रिता (देखिये छंद सं ३०/७)। तरहेल = अधीनस्थ। ओनावौं = अवनमित कर दूँ, झुका दूँ। खेल = क्रीड़ा (देखिए छंद सं० ६३/९)। 'तोर मरन मोर खेल' = तेरी मृत्यु तो मेरे हाथ का खेल है, सहज कर्म—मुहावरा। नागमती के मुख से उसका शिख-नख वर्णन कराने के व्याज से कवि ने उसे कलहान्तरिता कोटि की नायिका के रूप में चित्रित किया है।

अलंकार—वक्रोक्ति, वाचक, लुप्तोपमा, वृत्यनुप्रास ।।६५।।

पदुमावति सुनि उतर न सहा। नागमती नागिनि जिमि गही ।।
ओइँ[१] ओहि कहँ ओइँ[२] ओहि कहँ गहा[3]। गहा[४] गहनि[५] तस जाइ न कहा[६] ।।
दुऔ[७] नवल भर[८]जोबन गाजीं[९]। अछरी जानु[१०]अखारैं बाजीं[११] ।।
भा बाँहनि[१२] बाँहनि[१३] सौं जोरा। हिया[१४] हिया[१५] सौं[१६] बाग न मोरा ।।
कुच सौं कुच जौं[१७] सौहें[१८] आने[१९]। नवहिं न नाए टूटहिं ताने[२०] ।।
कुंभस्थल जेउँ[२१] गज मैमंता। दूनौ[२२] अल्हर[२३] भिरीं[२४] चौदंता ।।
देव लोक देखत मुए[२५] ठाढ़े। लागे बान हियँ जाहिं न काढ़े ।।
जानहुँ दीन्ह ठग लाडू, देखि आइ तस मीचु।
रहा न कोइ धरहरिया, करै जो[२६] दुहुँ[२७] महँ बीचु ।।६६।।

पाठान्तर : [१-२]वह [3]गही [४]काह [५]कहौं [६]कही [७]दुवौ [८]भरि [९]गाजैं [१०]जनहुँ [११] बाजैं [१२-१३] बाहुँन [१४] हिय सौं [१५] हिय [१६]कोइ [१७] × [१८]सोहैं [१९]अनी [२०]तनी [२१]जिमि [२२]दूवौ [२३]आइ [२४]भिरे [२५] हुत [२६] × [२७] दुहुँन्ह।

व्याख्या—पद्मावती (नागमती का) यह उत्तर सुन कर न सह सकी। उसने नागिन जैसी नागमती को (इसके पूर्व कि वह उस पर वार करती स्वयं उसे ही) पकड़ लिया। (तब तो) उस (पद्मावती) ने उस (नागमती) को और उस (नागमती) ने उस (पद्मावती) को (भली-भाँति) पकड़ा, (उन दोनों में) ऐसी धर-पकड़ हुई कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता है। दोनों ही नवेलियाँ (पद्मावती और नागमती अपने पूरे) यौवन में गरज रहीं थीं ऐसा प्रतीत होता था मानों (दो) अप्सरायें अखाड़े (मल्ल-भूमि) में (उतर कर एक दूसरे से) भिड़ गई हों। बाहों से बाहों का जोड़ (शक्ति-सामर्थ्य) हुआ और हृदय का हृदय से, (किन्तु किसी ने भी अपना) बाग (लक्ष्य-विन्दु) नहीं मोड़ा (अर्थात् जैसी की तैसी डटी रहीं और हटाये न हटीं उस समय) जो कुच के सम्मुख कुछ लाए गये तो वे झुकने से झुकते भी न थे यद्यपि उनके ताने (बन्धन या बन्द कसमसा जाने के कारण) टूटने (छिन्न-भिन्न होने) तक लगे। वे ऐसे लगते थे मानो (दो) मदोन्मत्त गजों के कुम्भस्थल हों और वे दोनों अल्हड़ (नवयुवतियाँ परस्पर) चौरंग भिड़ी हुई ऐसी लग रहीं थीं मानो (दो) चौदन्त हाथी भिड़े हों। (जिन्हें) देखते हुए द्यु-लोक के देवता तक मृत-प्राय हो रहे थे क्योंकि उनके हृदय में (जो काम के) बाण लगते थे वे (केनापि) निकाले ही नहीं जाते थे। मानों उन्हें ठग-लड्डू (खिला दिया गया हो, इस प्रकार उनकी मृत्यु निकट आई दीख पड़ी। (फलतः) कोई धरहरिया (मध्यस्थता) करने वाला भी न रहा जो उन दोनों (पद्मावती और नागमती के मध्य बीच-बचाव करता) ॥६६॥

टिप्पणी— उतर = उत्तर । गहा गहनि = ग्रहण प्रतिग्रहण; धरपकड़। नवल = नव वयस्का। गाजीं = गर्जना कर रही थीं। अछरी = अप्सरा (देखिए छन्द सं०-५१/४)। अखारें = अखाड़ा, मल्लभूमि। सौहैं = सम्मुख। बाग = लगाम; लक्ष्य विन्दु। कुच = उरोज, स्तन देखिए छन्द (सं० ३/७)। नवहिं न = अवनमित न होते थे (देखिए नागमती की चुनौती पद्मावती के प्रति छन्द सं०—६५/६)। ताने = ताने-बाने; चोली-बन्द। कुम्भस्थल = गण्डस्थल के संदर्भ में कुच शब्द का

प्रयोग देखिए छन्द सं० ३/७ । मैमन्ता = मदोन्मत्ता । अल्हर = व्यवहार ज्ञान शून्य; उद्दत । चौंदता = चौरंग; चारों तरफ से और क्रोधाविष्ट हाथी चारों दांत बाहर कर लेते हैं । देव लोक = द्यु लोक के देवतागण । मीचु = मृत्यु (देखिए छन्द सं० ६३/७) । धरहरिया = मध्यस्थ, (देखिए छन्द सं० ३/८) । ठग लाडू = ठगने के पूर्व अचेत या बेहोश करने के लिए ठग लोग जिस लड्डू (खाद्य पदार्थ) का प्रयोग करते हैं ।

अलंकार — उपमा, सम, वीप्सा, छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा ॥६६॥

पवन सवन[१] राजा के लागा । लरहिं[२] दुऔ[३] पदुमावति[४] नागा ॥
दूऔ[५] सम[६] साँवरि[७] औ गोरी । मरहिं त[८] कहँ पावसि असि जोरी ॥
चलि राजा आवा तेहिं बारीं । जरत बुझाईं दूनौ नारीं ॥
एक बार जिन्ह[९] पिउ[१०] मन बूझा । काहे[११] कौं[१२] दोसरे[१३] सौं[१४] जूझा ॥
ऐस[१५] ग्यान[१६] मन जान[१७] न कोई । कबहूँ राति कबहुँ दिन होई ॥
धूप छाँह दुइ[१८] पिअ के रंगा । दूनौं मिलीं रहहु[१९] एक संगा ॥
जूझब[२०] छाँड़हु[२१] बूझहु दोऊ । सेव[२२] करहु सेवा[२३] कछु[२४] होऊ ॥
तुम्ह[२५] गंगा[२६] जमुना[२७] दुइ[२८] नारी[२९], लिखा मोहम्मद जाग ।
सेव करहु मिलि दूनहुँ[३०], औ[३१] मानहु सुख भोग ॥६७॥

पाठान्तर—[१]स्रवन [२]कहेसि [३]लड़हिं [४]पदमिनि औ [५]दूनो [६]सवति [७]साम [८]तौ [९]जेइ [१०]पिय [११]सो दुसरे [१२]सों [१३]काहे [१४]क [१५]अस [१६]गियान [१७]आव [१८]दोउ [१९]रहहिं [२०]जूझ [२१]छाँड़ि अब [२२]सेवा [२३]सेव [२४]फल [२५]गंग [२६]जमुन [२७]तुम [२८]नारि [२९]दोउ [३०]दूनो [३१]तौ ।

व्याख्या :—(उधर) राजा (रत्नसेन अर्थात् आत्मा) के कानों में यह वार्त्ता हवा (प्राणवायु) के साथ जा लगी कि "पद्मावती (षट् चक्रों की शक्ति) और नागमती (कुण्डलिनी-मूलाधार की शक्ति) दोनों लड़ रही हैं, श्यामल और गौर वर्णा दोनों ही समतुल्य हैं, यदि (इस प्रकार परस्पर लड़कर) मर ही गईं तो (पुनः) ऐसी (सुन्दर) जोड़ी तू कहाँ पाएगा ?" (सुनते ही) राजा (आत्मा या हंस) (वाहन की प्रतीक्षा किए बिना ही पैदल) चल कर उस वाटिका (चक्रों के द्वार) में (वहाँ) आ पहुँचा और (सपत्नी-ईर्ष्या भाव में) जलती हुई उन दोनों ही स्त्रियों को शान्त किया। (और दोनों को समझाते हुए कहा—) "जिन्होंने एक बार (ब्रह्म-रन्ध्र का द्वार) भी प्रियतम का मन (दृष्टिकोण) (सुषुम्ना का रहस्य) जान लिया है, वे दूसरे से क्यों लड़ेंगी (अर्थात् तुम दोनों ही मुझे नहीं समझ सकी और इस कारण आपस में लड़ बैठी)। कोई भी यह ज्ञान, (सुषुम्ना का रहस्य) मन में नहीं जानता (लाता) कि कभी रात्रि (चन्द्र नाड़ी इड़ा) होती है और कभी दिन (सूर्य नाड़ी, पिंगला)। धूप और छाया तो उसी एक प्रियतम के दो रंग हैं, (इसलिए) तुम दोनों एक साथ (प्रेम भाव से) मिल कर रहो। दोनों ही (मेरी इस बात की गंभीरता को) समझो और (पारस्परिक मतभेद जन्य) कलह करना छोड़ो। (प्रिय की) सेवा करो और सेवा से (ही प्रिय का) कुछ (प्रेम) प्राप्त करो। मुहम्मद (कवि जायसी कहता है कि—) तुम दोनों नारियाँ गंगा (गौर वर्णा पद्मावती, अथवा इड़ा नाड़ी) और जमुना (श्यामल वर्णा नागमती अथवा पिंगला नाड़ी) हो और तुम्हारा जोग (संयोग) तो (अदृष्ट द्वारा पहले ही) लिख दिया गया है। इसलिए दोनों ही मिलकर (प्रेम भाव से प्रिय की) सेवा करो और (अपने अपने जीवन का) सुख भोग-मानो)" ॥ ६७ ॥

टिप्पणी :—पवन = वायु और प्राणवायु। सवन = श्रवण, कान। राजा = रत्नसेन और जीवात्मा। पदुमावति = पद्मावती, गौर वर्णा गंगा नदी, पद्मिनी या कमलिनी षट चक्रों की शक्ति, इड़ा नाड़ी, दिन और धूप। नागा = नागमती, श्यामलवर्णा, यमुना नदी, मूलाधार की शक्ति कुण्डलिनी, पिंगला नाड़ी,

रात्रि और छाया। मरहिं = मरना और प्राण शून्य होना। बारी = वाटिका और उन चक्रों का द्वार। जरत = जलती हुई बुझाई = शान्त करना और पचाना। नारी = स्त्री और नाड़ी बार = बार और ब्रह्म रन्ध्र का द्वार। पिउ = प्रियतम और ब्रह्म। मन = विचार और सुषुम्ना नाड़ी का रहस्य। ग्यान = ज्ञान और हठयोग का ज्ञान! सेवाँ = सेवा कर्म (देखिए छंद सं० ५४/६)। जोग = संयोग और हठयोग। 'लिखा मोहम्मद जोग' सूत्र का अर्थ होगा; प्रथम-तुम्हरा संयोग तो अदृष्ट द्वारा ही लिखा दिया गया था इसलिए और द्वितीय-मुहम्मद (कवि कहता है कि—) यह हठयोग (की साधना पद्धति में) लिखा गया है (जिसे मैंने अभी ऊपर लिखा है) इसलिए छंद के दो अर्थ होंगे।

अलंकार—अन्त्यानुप्रास, सम, श्लेष, गूढोक्ति ॥ ६७ ॥

———

दोहानुक्रमणी

दोहानुक्रमणी

•

साहित्य अकादेमी राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था है, जिसकी स्थापना भारत सरकार ने सन् १९५४ में की थी। यह एक स्वायत्त संस्था है, जिसकी नीतियाँ अकादेमी की परिषद् द्वारा निर्धारित होती हैं। परिषद् में विभिन्न भारतीय भाषाओं, राज्यों और विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि होते हैं।

साहित्य अकादेमी का प्रमुख उद्देश्य है भारतीय भाषाओं की साहित्यिक गतिविधियों का समन्वयन और उन्नयन करना और अनुवादों के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध उत्तम साहित्य को समग्र देश के पाठकों तक पहुँचाना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य अकादेमी ने एक विस्तृत प्रकाशन-योजना हाथ में ली है। इस योजना के अंतर्गत जो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं उनकी सूची साहित्य अकादेमी के विक्रय-विभाग से प्राप्त की जा सकती है।

परिशिष्ट : एक

दोहानुक्रमणी

दोहानुक्रमणी

क्रम सं०	दोहा	छंद सं०	पृ० सं०
२२.	जेहि पंखी कहँ अढ़वौं	२७	६७
२३.	जौं लहि फेरि मुकुति है	४०	६५
२४.	ठाढ़ि होसि जेहि ठाइँ	६०	१४३
२५.	तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी	६७	१५७
२६.	तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई	२०	५२
२७.	तूँ सपूत मनि ताकरि	३७	९०
२८.	दारिवँ दाख लेहिं रस	५	२५
२९.	देखि बिरह दुख ताकर	३८	९१
३०.	धोबिनि धौवै बिख हरै	६२	१४७
३१.	नगर एक हम देखा	३३	८३
३२.	नागमती सब साथ सहेली	५४	१२४
३३.	ना पावस ओहि देसरें	२८	७०
३४.	परबत समुँद अगम बिच	१४	४१
३५.	परबत समुँद मेघ ससि दिनअर	२५	५६
३६.	परा बीच धरहरिया	३	२१
३७.	पहिलें फूल कि दहुँ फर	५६	१३१
३८.	पिउ सौं कहेहु सँदेसरा	१८	४९
३९.	पुहुप बास मलयागिरि जीतेउँ	६४	१५१
४०.	पुहुप बास हौं पवन अधारी	६५	१५३
४१.	पुहुप सुगंध संसार मनि	४८	११०
४२.	पूँछहि सखी सहेली	४५	१०५
४३.	पौन झरक्कै हिय हिरकि	६	२६
४४.	पंखि आँखि तेहि मारग	३५	८६
४५.	फरे सहस साखा होइ	५०	११६
४६.	बरसि दैवस धनि रोइ कै	२६	६५
४७.	बाजै पाँच सबद निति	४९/क	११४

———

परिशिष्ट : दो

सुभाषित-अनुक्रमणी

क्रम सं०	सुभाषित
	तबहुँ गयंद घूरि नहिं तजा ।।
१८.	तपनि मिरिगसिरा जे सहहिं,
	अद्रा ते पलुहंत ।।
१९.	तासौं दुख कहिए हो बीरा ।
	जेहि सुनि कै लागै पर पीरा ।।
२०.	दिनहिं कि पूजै निसि अँधियारी ।।
२१.	निफल न जाइ काहु कै सेवा ।
२२.	नौजि होइ घर पुरुख बिहूना ।
२३.	प्रान पयान होत केइँ राखा ।
२४.	फर बिनु बिरिख कोइ ढेल न बाहा ।
२५.	बिरह दवा अस को रे बुझावा ।
२६.	भँवर पुरुख अस रहै न राखा ।
	तजै दाख महुआ रस चाखा ।।
२७.	भागिवंत सुखिया रितु छहूँ ।
२८.	यह मन अँठा रहै न सूधा ।
	बिपति न सँवरै सँपतिहि लुबुधा ।।
२९.	सहस बरिख दुख सहै जो कोई ।
	घरी एक सुख बिसरै सोई ।।
३०.	सहि नहिं जाइ सौति कै झारा ।

———
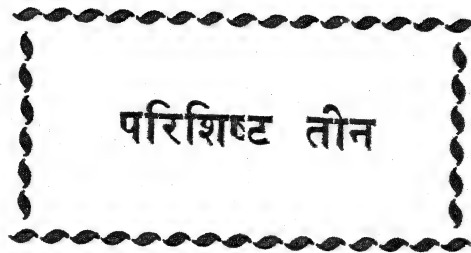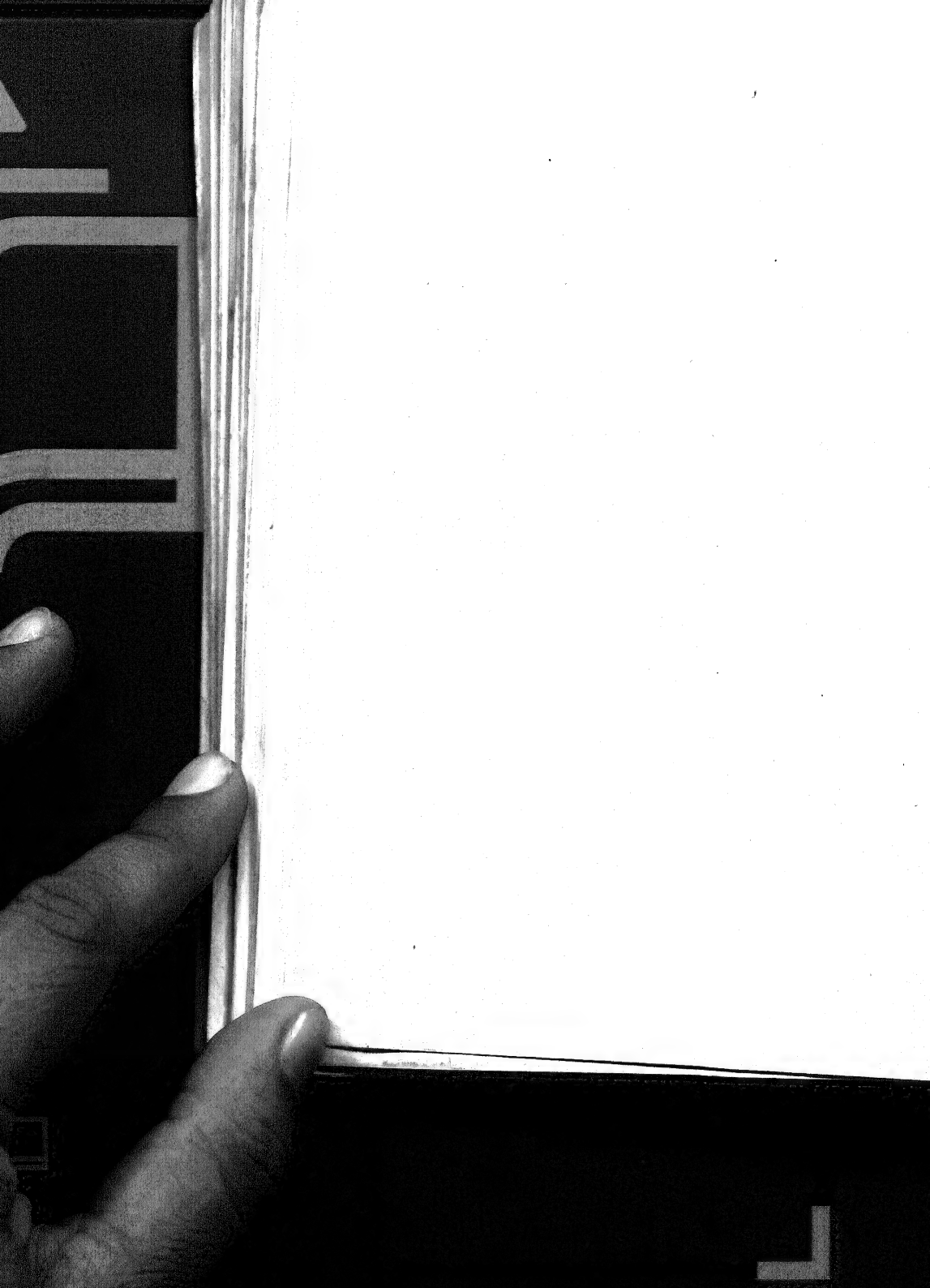
कवि एवं काव्य

हिन्दी साहित्य का आदि-कालीन काव्य मूलतः वीर एवं शृङ्गार-रस को ही अपना प्रतिपाद्य स्वीकार करके चला। यद्यपि वीर-रस की प्रधानता रही और शृङ्गार रस गौड़ रूप से प्रयुक्त हुआ, तथापि शृङ्गार-रस की प्रधानता भी कम नहीं रही, क्योंकि अधिकांश युद्धों के मूल में शृङ्गारकी भावना ही अनुप्राणित रही है। किन्तु इस काल में यह भावना स्थूल परिवेश में ही रह जाने के कारण उतनी महत्वपूर्ण न हो सकी जितना आगे चल कर हुई। निर्गुण भक्ति साहित्य के अन्तर्गत ज्ञानाश्रयी संत कवियों की लेखनी ने तो इसके संदर्भ में यहाँ तक घोषित कर दिया कि—

'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय॥'

'प्रेम' के इसी सूक्ष्म एवं व्यापक धरातल पर मध्यकालीन प्रेमाश्रयी शाखा का विकास हुआ, जिसके समुचित पल्लवन का एकमात्र श्रेय हिन्दी साहित्य के इतिहास में सूफी कवियों को है। सूफी कवियों की इस विशिष्ट काव्य-परम्परा का शिष्ट समाज में पर्याप्त प्रभाव पड़ा, जिसका सबसे बड़ा प्रमाण 'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य परम्परा' है। यद्यपि इसका चरम विकास हमें सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी के प्रबन्ध काव्य 'पद्मावत' में प्राप्त होता है, तथापि अन्य प्रेमाख्यानकों का भी कम महत्व नहीं है। प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा, पद्मावत एवं उसके प्रणेता मलिक मुहम्मद जायसी के सन्दर्भ में कुछ जानने के पूर्व सूफी धर्म, दर्शन एवं उनके सिद्धान्तों की भूमिका में सर्वप्रथम 'सूफी' शब्द की उत्पत्ति एवं उसकी व्युत्पत्ति-परक व्याख्या भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है तथापि—

विद्वानों का एक वर्ग 'सूफी' शब्द की निष्पत्ति 'सुफ्फा' शब्द, जिसका अर्थ 'चबूतरा' होता है, से मानता है। उसका अनुमान है कि 'सुफ्फे' पर बैठने वाले व्यक्तियों को ही 'सूफी' की संज्ञा दे दी गई, क्योंकि मदीने में मस्जिद के सामने 'सुफ्फे' पर जो 'फकीर' बैठते रहे होंगे, वे ही 'सूफी' कहलाने लगे और धीरे-धीरे कालान्तर में यह शब्द मुस्लिम सन्तों या फकीरों के अर्थ में रूढ़ हो गया होगा।

विद्वानों का दूसरा वर्ग इसे 'पंक्ति' अर्थ में प्रयुक्त 'सफ' शब्द से निष्पन्न मानता है। उसके मतानुसार ऐसे व्यक्ति या लोग जिनकी पंक्ति या श्रेणी ही अपनी अलग एवं विशिष्ट हो, 'सूफी' शब्द से अभिहित किए जाने लगे। इस्लाम धर्म की मान्यता के अनुसार सभी को एक विशिष्ट (फैसले के) दिन ईश्वर के सम्मुख प्रस्तुत होना पड़ेगा और अपने किए गए शुभाशुभ कर्मों के आधार पर उसका निर्णय शिरोधार्य करना पड़ेगा। सदाचार एवं आदर्शों की कसौटी पर खरे उतरने वालों को, उनके सद्कर्मों के कारण, सामान्य कोटि के लोगों से भिन्न एक विशिष्ट पंक्ति प्रदान की जायगी। उन्हें ही 'सूफी' कहते हैं।

कुछ विद्वान् 'सूफी' शब्द को 'सोफिया' शब्द के परवर्तित रूप में स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार 'सोफिया' जिसका अर्थ 'ज्ञान' होता है, से युक्त व्यक्ति विशेष 'सूफी' इस विशिष्ट उपाधि का अधिकारी है।

किन्तु उपर्युक्त तीनों ही वर्गों से पृथक विद्वानों का एक अन्य वर्ग, जिसके अन्तर्गत ब्राउन, निकल्सन, मारगोलियथ आदि पाश्चात्य विद्वानों के साथ-साथ मुस्लिम विद्वान् भी आते हैं, 'सूफी' शब्द को 'सूफ' शब्द से निष्पन्न मानते हैं। इनके मतानुसार 'सूफ' (जिसका अर्थ ऊन' होता है)—धारी ही कालान्तर में सूफी' कहे जाने लगे। यूहन्ना भी सूफधारी ही था।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ईसा की आठवीं शताब्दी में फारस का एक छोटा सा सम्प्रदाय इस्लाम धर्म के मुस्लिम आदर्शों एवं उनके जीवन दर्शन के विरुद्ध क्रान्ति कर उठा, जिसके अन्तर्गत भौतिक एवं ऐहिक सुखों का

सर्वथा परित्याग कर देना ही मन के वास्तविक शान्ति के प्राप्त्यर्थ श्रेयस्कर समझा गया और इस प्रकार सरलतम साधारण-जीवन के समानान्तर उच्च बौद्धिक एवं आध्यात्मिक विचारों की महत्ता को स्थान दिया गया। यह सादगी और सरलता वेश-भूषा तक आ पहुँची, फलतः सफेद ऊन के बने हुए साधारण वस्त्रों को ही मान्यता प्राप्त हो सकी। फारसी में सफेद ऊन को 'सूफ' कहते हैं, इसी कारण इस सम्प्रदाय के अनुयायी 'सूफी' कहे जाने लगे। जामी के अनुसार 'सूफी' शब्द को उपाधि के रूप में सर्वप्रथम प्रयोग करने वाला कूफा का 'अलहासिम' था, किन्तु निकल्सन बसरा के अरबी लेखक 'जाहिज प्रथम' का उल्लेख करता है। व्यक्तिवाचक विशेषण के रूप में 'सूफी' शब्द का प्रयोग, इतिहासकार कुथैरी के अनुसार, ईसा की नवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था। 'अवारीफुल मारीफ' के प्रणेता शेख शहाबुद्दीन वर्दी के मतानुसार भी पैगम्बर की मृत्यु के दो सौ वर्षों के बाद ही इस शब्द का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, किन्तु बाद में चल कर विभिन्न सूफी सम्प्रदायों के प्रशंसक तथा अनुयायियों अथवा उनके विचारों से सहमत विद्वानों ने इस शब्द और मत को पैगम्बर के समय से अथवा उससे भी पूर्व स्वीकार कर लिया, जो असंगत एवं निराधार है।

'सूफी साधना और साहित्य' में प्रो० राम पूजन तिवारी का मत इस संदर्भ में उल्लेखनीय है—"पहले जहाँ यह शब्द व्यक्तियों के नाम के साथ जुड़ा हुआ मिलता है, वहाँ पचास वर्षों के भीतर इसका प्रयोग सम्पूर्ण ईराक के रहस्यवादी साधकों के लिए होने लगा और दो सौ वर्ष बीतते-बीतते प्रायः सभी मुस्लिम रहस्यवादी साधकों के लिए इसका व्यवहार होने लगा। तब से आज तक 'सूफी' शब्द का व्यवहार उसी अर्थ में होता आ रहा है।"

इस प्रकार भौतिक द्वन्द्वों से परे शान्ति-पूर्वक साधारण जीवन-यापन करते हुए ब्रह्म में अव्याहत एक चित्त रहने वाला ही 'सूफी' संज्ञा का अधिकारी होता है। सूफीमत के उद्भव एवं विकास पर प्रकाश डालते हुए डा० विमल कुमार जैन का मत है कि—"सूफी" शब्द का प्रचलन चाहे जब हुआ हो, परन्तु उसमें अन्तर्निहित भावना उतनी ही प्राचीन है जितना विकसित मानव

हृदय, क्योंकि सूफी भावना भी मानव में सदैव से तरंगित रहस्य की जिज्ञासा का ही परिणाम है। मानव मन निसर्गतः एक सा है, जो सदा आत्मा के मूल की खोज में प्रकट या अप्रकट रूप से विकल रहता है। मुस्लिम साधकों के मन में भी यही भावना देश-काल को साधन पाकर उद्‌बुद्ध हुई और अन्त में सूफी-मत के रूप में संसार के समक्ष आविर्भूत हुई।" इस दृष्टि से सूफियों का विचार-दर्शन एवं मत भारतीय वेदान्तियों के अद्वैतवाद के जितनी अधिक निकट आ जाता है, उतना इस्लाम धर्म से दूर भी हो जाता है, कारण कि प्रेम के प्रति आग्रह एवं आतुरता, अमूर्त तत्व का चिंतन, मनन एवं निदिध्यासन आदि भारतीय रहस्यवाद के ही अन्तर्गत समाविष्ट होते हैं, जो सूफियों की साधना एवं मत के मूल हैं। इसके साथ ही सूफियों ने सामान्य रति-भाव को भावात्मक कलेवर प्रदान कर भौतिक प्रेम को दिव्य प्रकाश प्रदान किया।

सूफीमत के आविर्भाव से ह्रास तक के क्रमिक आख्यान को 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' में डा० पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ 'कमल' ने चार कालों में विभक्त कर इस प्रकार विश्लेषित करने का प्रयास किया है—

(१) तापसी जीवन।
(२) सैद्धान्तिक विकास।
(३) सुसंगठित सम्प्रदाय।
(४) ह्रास।

सूफियों के तापसी जीवन का सभारम्भ ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त तथा आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया में एक विशिष्ट जन समूह द्वारा हुआ। इस वर्ग की आस्था मुहम्मद साहब तथा कुरान के प्रति तो रही किन्तु इस्लाम धर्म के प्रति नहीं, फलतः भौतिक सुखों का परित्याग कर उनका सरल एवं साधारण जीवन को स्वीकार करना इसी 'तापसी जीवन' की ओर संकेत करता है। सूफियों की यह साधना फकीरों के सन्यस्त जीवन तक ही सीमित रही और कालान्तर में आठवीं शताब्दी के अन्त तक उनकी वैचारिक मान्यता, दार्शनिक चिन्तन आदि की आध्यात्मिक

प्रवृत्ति भी परिपक्व हो प्रकृति, प्रेम तथा परमसत्ता को अपनी सम्पूर्णता में स्पर्श करने लगी। अब उन्हें प्रेम की पीर का आभास भी होने लगा।

सूफी-मत का सैद्धान्तिक विकास ईसा की दसवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक माना जाता है। फकीरों के रूप में भ्रमण करने वाले इन बौद्धिक विचारकों ने अपनी मान्यताओं, आदर्शों एवं मतों का जन सामान्य में प्रचार एवं प्रसार किया। इनके सिद्धान्तों का जन समाज में पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा जिससे इनके अनुयायियों की संख्या भी बढ़ी और साथ ही इन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा भी मिली। सूफी सिद्धान्तों के शास्त्रीय विवेचन के निमित्त पारिभाषिक शब्दावली का भी निर्माण किया गया। मुर्शीद अथवा गुरु का महत्व बढ़ा। 'अनलहक' के रूप में 'तत्वमसि' की पुनरावृत्ति हुई जिससे इस्लामी एकेश्वरवाद तिरस्कृत भी हुआ, तो भी इस मतभेद को दूर कर संतुलन स्थापित रखने का भी पर्याप्त प्रयास किया गया।

सैद्धान्तिक-विकास के उपरान्त १४ से १८ वीं शताब्दी तक का काल सूफी-मत के इतिहास-क्रम में सुसंगठित सम्प्रदाय के काल के रूप में दृष्टिगत होता है। गुरुओं ने अपने चेलों को आध्यात्मिक शिक्षा का उपदेश अपने व्यक्तिगत अनुभवों की व्यावहारिकता एवं चिन्तन के आधार पर करना प्रारम्भ कर दिया। इन सम्प्रदायों में स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से प्रवेश प्राप्त करने के अधिकारी होते थे। इस्लाम का प्रवेश भारत में यद्यपि सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही हो चुका था, किन्तु सूफियों के भारत-प्रवेश का प्रमाण ११ वीं-१२ वीं शताब्दी में ही प्राप्त होता है। इनका प्रवेश-स्थल भी पंजाब और सिन्धु प्रदेश रहा जहाँ ये नाथों के हठयोग, वेदान्त तथा हीनयानी बौद्धों के मतों से परिचित हुए। भक्ति-कालीन वातावरण सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किए हुए था, फलतः साम्प्रदायिक मतभेदों में समझौता हुआ और राजनीतिक वातावरण की शान्त पृष्ठ-भूमि में धीरे-धीरे सूफी और उनके मत इन सम्प्रदायों के रूप में फैलते गये :—

(१) चिश्ती सम्प्रदाय (१२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)।

(२) सुहरावर्दी सम्प्रदाय (१३वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)।

(३) कादरी सम्प्रदाय (१३वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) ।
(४) नक्शबन्दी सम्प्रदाय (१६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) ।

भारत में सूफी और उनके मत-प्रवेश के सन्दर्भ में 'जायसी और उनका साहित्य' में अपना विचार व्यक्त करते हुए प्रो० यज्ञदत्त शर्मा का मत है कि—
"सूफी धर्म का प्रसार भारत में पूर्णतया शान्ति और अहिंसा के सिद्धान्तों पर चल कर हुआ। यह इस्लाम का वह रूप नहीं था जो तलवार की धार पर चल कर या रक्त की सरिता में बह कर भारत-भूमि पर आया हो। प्रेम, आत्मीयता सरलता, सच्चरित्रता के सहारे यह विचार-धारा भारत में फैली और इससे इस्लाम के प्रसार में योग मिला। यह स्थायी योग था जिसने जनता के दिलों में घर किया। किसी भय या आतंक के कारण इसका प्रसार नहीं हुआ।"

१६ वीं शताब्दी से सूफी-मत का ह्रास प्रारम्भ होता है। सम्प्रदाय काल में ही इस पतन का बीज रूप परिलक्षित होने लगता है। आचरण की शुद्धता, जीवन की सरलता से दूर सूफी शेख वाह्याडम्बर प्रेमी होने लगे थे। अन्ध-विश्वासी भोली-भाली जनता को यौगिक प्रपञ्चों में उलझा कर स्वार्थ सिद्धि से चूकते न थे। सम्प्रदायों की उत्तरोत्तर अगणय वृद्धि सूफियों के व्यक्तिगत स्वार्थों को, आत्म-श्लाघा की प्रवृत्ति को, चारित्रिक अपवित्रता को अब और अधिक न पचा सकी। धर्म के नाम पर मिथ्याडम्बरों के खोखलेपन की टटिया वैज्ञानिक प्रकाश के जागरण में उड़ चली और उसके साथ ही उड़ गया सूफी मत, धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय। इसके इस विकास में सूफी कवियों की रचनाओं का भी योगदान रहा।

सूफी सन्तों की इसी काव्य-परम्परा के अन्तर्गत मलिक मुहम्मद जायसी और उनके लोक-प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य 'पद्मावत' का नाम लिया जाता है किन्तु उस पर विचार करने के पूर्व आवश्यक हो जाता है कि 'हिन्दी प्रेमाख्यान-काव्य परम्परा' की एक संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत कर दी जाय। कवि जायसी ने स्वयं इन प्रेम कथाओं की एक क्रमबद्ध सूची दी है—

'बहुतन्ह ऐस जीउ पर खेला। तूँ जोगी केहि माहँ अकेला।
बिक्रम धँसा पेम के बाराँ। सपनावति कहँ गएउ पताराँ।।
सुदैबच्छ मुगुधावति लागी। कँकन पूरि होइ गा बैरागी।।
राज कुँवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावती कहँ जोगी भएऊ।।
साधा कुँवर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह बियोगू।।
पेमावति कहं सरसुर साधा। उखा लागि अनिरुध बर बाँधा।।'

(पद्मावत छंद सं० २३३/२-७)

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्मावती के आख्यान के पूर्व ही उपर्युक्त सभी आख्यानों की लोक प्रसिद्धि हो चुकी थी और 'सपनावती', 'मुगधावती', 'मृगावती' 'मधुमालती' और 'प्रेमावती' आदि हिन्दी के प्रेमाख्यान ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इन सभी प्रेमाख्यान-काव्यों के मूल में सूफी सन्तों की ईश्वरोन्मुखी प्रेममयी साधना ही प्रधान रही। यह सूफी साधना दो भागों में व्यक्त हुई एक तो, हिन्दी या खड़ी बोली में और दूसरे अवधी में। दोनों ही भाषाओं के माध्यम से मसनवी (कथात्मक) शैली में लोक में प्रचलित एवं बहुजन-श्रुत प्रेम-कथाओं को काव्य का आकारिक स्वरूप प्राप्त हुआ। किन्तु, वास्तव में अवधी में लिखा गया सूफी-काव्य ही आगे चलकर 'प्रेमाख्यानक काव्य' से अभिहित किया जाने लगा।

प्रेमाख्यानकों में सामान्य लौकिक प्रेम का चित्रण हुआ है और वे शुद्ध लौकिक रति एवं विरति का ही निर्वचन करते हैं, ऐसी धारणा भी असंगत ही है, क्योंकि इन प्रेम कथाओं का आध्यात्मिक महत्व भी है। प्रेम-कथात्मक काव्यों के आदि रूप में 'मुल्ला दाउद' कृत 'चम्पावत' (अलाउद्दीन खिलजी के शासन काल से सम्बद्ध) का उल्लेख किया जाता है। 'चन्दायन' का कथानक भी 'नूरक' और 'चन्दा' की प्रेम-कथा ही है। प्रेमाख्यान-ग्रन्थों की प्रेम-कथाएँ लोक अथवा इतिहास-प्रसिद्ध नायक नायिकाओं तक सीमित रहीं, फलतः इनका प्रचार एवं प्रसार भी लोक में उसी व्यापक स्तर पर हुआ। हिन्दी-प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा' के अन्तर्गत इन रचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है—

(१) 'मृगावती'—इसके प्रणेता 'शेख कुतुबन' चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और इसका रचना काल भी १५६० ई० निर्धारित किया जाता है। काव्य में कंचनगिरि के राजा रूप मुरारि की कन्या 'मृगावती' एवं चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव के राजकुमार की प्रेम-कथा का निरूपण दोहा, चौपाई, सोरठा और अरिल्ल छन्दों के माध्यम से हुआ है।

(२) 'मधुमालती'—सूफी कवि 'मंझन' कृत मधुमालती का रचना काल निर्धारित नहीं किया जा सका है तथापि काव्य की दृष्टि से प्रेम के स्वरूप तथा सिद्धान्त का निर्वचन करने वाली महारस की राज कुमारी 'मधुमालती' एवं कनेसर के राजकुमार 'मनोहर' की प्रेम-कथा ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। प्रधान-कथा के साथ-साथ उपनायक तारा चन्द तथा उसकी प्रेमिका (उपनायिका) प्रेमा की कथा का भी मनोहारी वर्णन 'मधुमालती' में प्राप्त होता है। कथा-संगठन, कथानक का सहज प्रवाह, वर्णन-शैली, भाषा की प्रभाविष्णुता, प्रेम के स्वरूप का विवेचन तथा उसकी सैद्धान्तिक व्याख्या, विरह का मर्म-स्पर्शी चित्रण आदि सभी दृष्टियों से कवि को पूरी सफलता मिली है।

(३) 'पद्मावत'—प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा में कुतुबन तथा मंझन को यदि जायसी का मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय प्रदान किया जाय तो असंगत न होगा। जायसी के परवर्ती 'चित्रावली' के प्रणेता 'उस्मान' ने भी अपने काव्य-ग्रन्थ में 'मृगावती' और 'मधुमालती' के बाद ही 'पद्मावत' का उल्लेख किया है। 'पद्मावत' में सिंहलद्वीप के महाराज गन्धवसेन की राजकुमारी 'पद्मावती' तथा चित्तौड़गढ़ नरेश 'रत्नसेन' की प्रेम कथा का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है। प्रेमाख्यानकों की यह परम्परा १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक विकसित होती गई जिसका का चरम विकास हमें जायसी की इस रचना में उपलब्ध होता है।

(४) 'चित्रावली'—'उस्मान' कृत 'चित्रावली' का रचना काल १६१३ ई० माना जाता है। इसकी कथा नेपाल के किसी राजकुमार, 'सुजान' तथा

'चित्रावली' और सागर की राजकुमारी 'कमलावती' की शुद्ध काल्पनिक प्रेम कथा है। कथा की नायिका 'चित्रावली' भी रूपनगर की राजकुमारी है। जायसी कृत पद्मावत की ही शैली पर लिखा गया यह काव्य अपना निजी महत्व रखता है। इसकी भाषा अवधी होने पर भी भोजपुरी से कुछ प्रभावित है।

(५) 'ज्ञानदीप'—'शेख नबी' द्वारा प्रणीत इस काव्य रचना का रचनाकाल १६१६ ई० माना जाता है, जिसमें महाराज 'ज्ञानदीप' एवं 'देवयानी' की प्रेम कथा वर्णित है।

(६) 'हंस जवाहर'—सन् १७३१ ई० में कासिम शाह द्वारा लिखे गये इस काव्य-ग्रंथ में राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम कथा का निरूपण हुआ है। रत्नसेन की भाँति ही हंस भी जवाहर के प्रेम में योगी होकर निकलता है और अन्त में उसे प्राप्त करके ही लौटता है। यह भी लौकिक तत्वों के साथ-साथ आद्यन्त अलौकिक तत्वों को पूरी तरह प्राधान्य देने वाला काव्य है।

(७) इसके बाद 'नूर मुहम्मद' के नाम से लिखी गई दो रचनाएँ 'इन्द्रावती' (रचनाकाल १७४४ ई०) और 'अनुराग बाँसुरी' (रचना काल १७६४ ई० के आस पास) भी इसी काव्य परम्परा के ही अन्तर्गत आती हैं।

(८) 'प्रेमरतन'—'नूर मुहम्मद', जिसका उपनाम 'कामयाब' भी मिलता है, के बाद १८४८ ई० में फाजिलशाह द्वारा रचित 'प्रेम रतन' का नाम आता है जिसमें मात्र इसके कि 'नूरशाह' एवं 'माह मुनीर' की प्रेम कथा वर्णित है, उन्हीं सब बातों की पुनरावृत्ति ही है जो अन्य प्रेमाख्यानकों में उपलब्ध होते हैं।

इसी क्रम में 'नल-दमन', 'माधवानल' 'यूसुफ-जुलेखा' आदि काव्य ग्रंथों के नाम भी उल्लेखनीय हैं, किन्तु इनका कोई विशेष महत्व नहीं है। डा० पृथ्वी नाथ कुलश्रेष्ठ 'कमल' ने 'पुहुपावती' (रचना काल १६६९ ई०) नामक एक अन्य प्रेमाख्यानक काव्य-रचना का उल्लेख किया है जिनके प्रणेता 'दुख हरन दास' हैं। 'पुहुपावती' उच्च कोटि का अध्यात्म-परक सूफी प्रेम काव्य है जिसमें 'पुहुपावती' की प्रेम कथा का वर्णन हुआ है।

(१) 'मृगावती'—इसके प्रणेता 'शेख कुतुबन' चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे और इसका रचना काल भी १५६० ई० निर्धारित किया जाता है। काव्य में कचनगिरि के राजा रूप मुरारि की कन्या 'मृगावती' एवं चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव के राजकुमार की प्रेम-कथा का निरूपण दोहा, चौपाई, सोरठा और अरिल्ल छन्दों के माध्यम से हुआ है।

(२) 'मधुमालती'—सूफी कवि 'मंझन' कृत मधुमालती का रचना काल निर्धारित नहीं किया जा सका है तथापि काव्य की दृष्टि से प्रेम के स्वरूप तथा सिद्धान्त का निर्वचन करने वाली महारस की राज कुमारी 'मधुमालती' एवं कनेसर के राजकुमार 'मनोहर' की प्रेम-कथा ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। प्रधान-कथा के साथ-साथ उपनायक तारा चन्द तथा उसकी प्रेमिका (उपनायिका) प्रेमा की कथा का भी मनोहारी वर्णन 'मधुमालती' में प्राप्त होता है कथा-संगठन, कथानक का सहज प्रवाह, वर्णन-शैली, भाषा की प्रभाविष्णुता, प्रेम के स्वरूप का विवेचन तथा उसकी सैद्धान्तिक व्याख्या, विरह का मर्म-स्पर्शी चित्रण आदि सभी दृष्टियों से कवि को पूरी सफलता मिली है।

(३) 'पदमावत'— प्रेमाख्यान-काव्य-परम्परा में कुतुबन तथा मंझन को यदि जायसी का मार्ग प्रशस्त करने का श्रेय प्रदान किया जाय तो असंगत न होगा। जायसी के परवर्ती 'चित्रावली' के प्रणेता 'उस्मान' ने भी अपने काव्य-ग्रन्थ में 'मृगावती' और 'मधुमालती' के बाद ही 'पद्मावत' का उल्लेख किया है। 'पद्मावत' मे सिंहलद्वीप के महाराज गन्धवसेन की राजकुमारी 'पद्मावती' तथा चित्तौड़गढ़ नरेश 'रत्नसेन' की प्रेम कथा का अत्यन्त मर्मस्पर्शी वर्णन हुआ है। प्रेमाख्यानकों की यह परम्परा १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक विकसित होती गई जिसका का चरम विकास हमें जायसी की इस रचना में उपलब्ध होता है।

(४) 'चित्रावली'—'उस्मान' कृत 'चित्रावली' का रचना काल १६१३ ई० माना जाता है। इसकी कथा नेपाल के किसी राजकुमार, 'सुजान' तथा

'चित्रावली' और सागर की राजकुमारी 'कमलावती' की शुद्ध काल्पनिक प्रेम कथा है। कथा की नायिका 'चित्रावली' भी रूपनगर की राजकुमारी है। जायसी कृत पद्मावत की ही शैली पर लिखा गया यह काव्य अपना निजी महत्व रखता है। इसकी भाषा अवधी होने पर भी भोजपुरी से कुछ प्रभावित है।

(५) **'ज्ञानदीप'**—'शेख नबी' द्वारा प्रणीत इस काव्य रचना का रचनाकाल १६१९ ई० माना जाता है, जिसमें महाराज 'ज्ञानदीप' एवं 'देवयानी' की प्रेम कथा वर्णित है।

(६) **'हंस जवाहर'**—सन् १७३१ ई० में कासिम शाह द्वारा लिखे गये इस काव्य-ग्रंथ में राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम कथा का निरूपण हुआ है। रतनसेन की भाँति ही हंस भी जवाहर के प्रेम में योगी होकर निकलता है और अन्त में उसे प्राप्त करके ही लौटता है। यह भी लौकिक तत्वों के साथ-साथ आद्यन्त अलौकिक तत्वों को पूरी तरह प्राधान्य देने वाला काव्य है।

(७) इसके बाद 'नूर मुहम्मद' के नाम से लिखी गई दो रचनाएं 'इन्द्रावती' (रचनाकाल १७४४ ई०) और 'अनुराग बाँसुरी' (रचना काल १७६४ ई० के आस पास) भी इसी काव्य परम्परा के ही अन्तर्गत आती हैं।

(८) **'प्रेमरतन'**—'नूर मुहम्मद', जिसका उपनाम 'कामयाब' भी मिलता है, के बाद १८४८ ई० में फाजिलशाह द्वारा रचित 'प्रेम रतन' का नाम आता है जिसमें मात्र इसके कि 'नूरशाह' एवं 'माह मुनीर' की प्रेम कथा वर्णित है, उन्हीं सब बातों की पुनरावृत्ति ही है जो अन्य प्रेमाख्यानकों में उपलब्ध होते हैं।

इसी क्रम में 'नल-दमन', 'माधवानल' 'यूसुफ-जुलेखा' आदि काव्य ग्रंथों के नाम भी उल्लेखनीय हैं, किन्तु इनका कोई विशेष महत्व नहीं है। डा० पृथ्वी नाथ कुलश्रेष्ठ 'कमल' ने 'पुहुपावती' (रचना काल १६६९ ई०) नामक एक अन्य प्रेमाख्यानक काव्य-रचना का उल्लेख किया है जिनके प्रणेता 'दुख हरन दास' हैं। 'पुहुपावती' उच्च कोटि का अध्यात्म-परक सूफी प्रेम काव्य है जिसमें 'पुहुपावती' की प्रेम कथा का वर्णन हुआ है।

'हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य परम्परा' के अन्तर्गत प्रतिष्ठित उपर्युक्त सभी काव्यों का विवेचन करने के अनन्तर यही निष्कर्ष निकलता है कि इन सभी काव्यों में प्रेम कथा का वर्णन है, कथा या तो इतिहास सम्मत है या कल्पना प्रसूत, नायक एवं नायिका समाज के उच्चतम वर्ग (राजा और रानी अथवा राजकुमार एवं राजकुमारी) कोटि के पात्र हैं, लक्षणया प्रवृत्ति से निवृत्ति मार्ग को ही प्रशस्त किया गया है। इन सभी काव्यों में भाषा एवं छन्दगत साम्य तो दृष्टिगत होती ही है, कथा कहने की शैली भी कुछ एक सी ही है। इन काव्यों के प्रणेता भी सूफीमत के अनुयायी या प्रचारक ही ज्ञात होते हैं, जिनका हृदय 'प्रेम' की 'पीर' से भरा हुआ हैं। साम्प्रदायिक वैमनस्य को दूर कर समाज में हिन्दुओं एव मुसलमानों के बीच वैचारिक सन्तुलन स्थापित करने में जितना इन प्रेमाख्यान ग्रन्थों का योगदान रहा उतना किसी भी अन्य साधन का नहीं। इस प्रकार निर्गुण एवं सगुण भक्ति का विलक्षण समन्वय इन भारतीय सूफी प्रेमाख्यानकों की अपनी मौलिकता रही है।

प्रबन्ध-काव्य के पूर्णता की चरम परिणति रूप जायसी कृत 'पद्मावत' का सूफी सन्तों की उपर्युक्त काव्य परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान है तथापि कालान्तर में कवि एवं उसकी कृति के साथ वह न्यायोचित दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया जिसका वह वास्तविक अधिकारी था। पाठकों और विद्वत्समाज का मौन निमन्त्रण उसका आह्वान तो करता रहा, किन्तु उसक प्रति वह अभिरुचि नहीं आ सकी। कारण कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद ही है कि सगुण भक्ति काव्य परम्परा में जो समादर 'रामचरितमानस' को प्राप्त हुआ उससे निर्गुण भक्ति काव्य परम्परा की यह अनुपम इकाई सर्वथा वंचित रही। यद्यपि तुलसी एवं जायसी इन दोनों ही महाकवियो ने सम सामयिक लोक जीवन को दृष्टि पथ में रखते हुए अपने-अपने विचारों एवं सिद्धान्तों के प्रतिपादन का मूल श्रेय साधन रूप में तात्कालिक लोक भाषा एव छन्दों को ही दिया। दोनों में अन्तर यदि कुछ रहा भी तो एकमात्र यही कि एक ने लोक जीवन को मर्यादित कलेवर प्रदान किया, जबकि दूसरे ने किसी भी प्रकार की मर्यादा को प्रेम के व्यापक परिवेश में अनावश्यक एवं अनपेक्षित स्वीकार

करते हुए लोक जीवन का सहज प्रवाह अनुप्राणित कर दिया। इसी कारण साहित्य में सूफी कवि जायसी का नाम गोस्वामी तुलसीदास के नाम से यदि अधिक नहीं तो कम महत्व भी नहीं रखता है।

जायसी का जीवन वृत्त भी कम विवादास्पद नहीं है क्योंकि 'आखिरी कलाम' में यदि एक ओर प्रमाण यह मिलता है कि—

'भा अवतार मोर नव सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी।"

अर्थात् अवतार तो हुआ ६०० हिजरी (सन् १४६२ के आसपास) किन्तु जन्म से ३० वर्ष की अवस्था के पश्चात् उन्होंने काव्य रचना प्रारम्भ की। प्रश्न उठ सकता है कि अवस्था के प्रथम तीस (महत्वपूर्ण) वर्षों तक वे क्या करते रहे? समाधान में यही उत्तर है—

'जायस नगर धरम अस्थानू।
तहाँ आइ कवि कीन्ह बखानू।।'

[पद्मावत—२३/१]

अर्थात् जायस प्रदेश जो उस समय का धर्म-स्थान था। और कवि-कर्म के लिए महत्वपूर्ण भी, वहाँ पुनः (वापस) आकर कवि ने पद्मावत का व्याख्यान प्रारम्भ किया। 'धरम' शब्द को जन्म का पर्याय मानते हुए आलोचकों ने इस प्रमाण पर मलिक मुहम्मद जायसी को जायस का निवासी माना है। किन्तु ऐसा नहीं, क्योंकि जन्म के लिए कवि ने स्वयं 'जरम' शब्द का प्रयोग किया हैं जो इसी के समानान्तर है। इसलिए 'धरम' और 'जरम' दोनों भिन्न प्रकरण एवं प्रसंग से सम्बन्धित है।

देखिए—

'पानि न पियै आगि पै चाहा।
तोहि अस पूत जरम अस लाहा।।"

[पृ० सं०—६०]

कवि को जायस प्रदेश का एक महत्वपूर्ण व्यक्ति, उसकी 'जायसी' उपाधि ही प्रमाणित करती है तो 'धरम' शब्द के साथ खींच तान कर अन्याय करना व्यर्थ ही है। मलिक मुहम्मद जायसी का सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'पद्मावत' है जिसमें कवि स्वय अपने सदर्भ के कुछ विशिष्ट उल्लेख प्रस्तुत करता है—

'सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कवि कहै।
सिंघल दीप पदुमिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी।
अलाउदीं ढिल्ली सुल्तानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू।
सुना सहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरुकहिं भई लराई।
आदि अंत जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै।,"

[पद्मावत २४/ १-५]

उपर्युक्त प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त 'सैंतालिस' का पाठ 'सत्ताइस' और 'पैंतालिस' भी मिलते हैं, जिनका एकमात्र कारण लिपि जनित विकृतियाँ हैं। "नौ सै पैंतालिस" का पाठ तो नितान्त अप्रामाणिक है और 'नौ सै सत्ताइस' का पाठ विवादास्पद है जिसे आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रामाणिक माना है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'नौ सै सैंतालिस' का पाठ प्रामाणिक माना है और उसके समर्थन में उन्होंने अपने तर्क भी पर्याप्त दिए हैं। निष्कर्ष रूप में उनका मत है कि "फलत:, यह प्रकट है कि रचना की तिथि मूल-पाठ में 'नौ सै सैंतालिस' ही रही होगी, और उसी से उसके दो पाठान्तर 'नौ सै सत्ताइस' और 'नौ सै पैंतालिस' बने होंगे।"

[पद्मावत : भूमिका, पृ०-३]

मलिक मुहम्मद जायसी जायस के ग्रहस्थ कृषक वर्ग के सदस्य थे। वे आस्थावान् एवं साधु प्रवृत्ति के तो थे ही, साथ ही उनका हृदय 'प्रेम की पीर' से आपूरित था। वे विकलांग भी थे जिसका स्पष्ट प्रमाण भी हमें मिलता है—

'एक नैन कबि मुहमद गुनी।'

[पद्मावत—छन्द सं० २१/१]

उनकी इस 'समदर्शिता' के कारण लोग उन पर हँसते हों या उनको देखकर मुख मोड़ लेते हों, तो इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं। इसीलिए जायसी हँसने वालों के प्रति भी सतर्क रहते थे और साथ ही उनकी अज्ञानता के प्रति संकेत करने से चूकते भी न थे। प्रस्तुत काव्य संकलन में ही—

का तुम्ह हंसहु गरब कै, करहु समुँद महुँ केलि।
मति ओहि बिरहै बसि परहु, दहै अगिनि जल मेलि ॥३४॥

× × ×

जेत नारि हँसि पूँछै, अमिय वचन जिमि नित।
रस उतरा सो चढ़ा बिख, ना ओहि चिंत न मिंत ॥४१॥

× + ×

काह हँससि तूँ मोसौं, किए जो और सौं नेहु।
तोहि मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेहु ॥४६॥

शेख 'मुहीउद्दीन' का उल्लेख भी उन्होंने गुरु के रूप में किया है और अपनी गुरु परम्परा का क्रमिक विकास दिखाते हुए 'गुरु' की महत्ता को भी स्वीकार किया है जिनकी कृपा दृष्टि से उन्हें प्रेम का साक्षात्कार हुआ—

'गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जिन्ह कर खेवा।

× × ×

उन्ह सौं मैं पाई जब करनी। उघरी जीभ प्रेम कबि बरनी ॥"

[पद्मावत—छन्द सं० २०/१—६]

इसी प्रकार कवि ने 'चतुर्दश-विद्या' निष्णात यूसुफमलिक, सालार कादिम, सलोने मियाँ और बड़े शेख इन अपने चार अनन्य मित्रों का भी उल्लेख 'पद्मावत' में किया है—

'चारि मीत कबि मुहमद पाए। ... ...
यूसुफ मलिक पंडित औ ग्यानी। ... ...

पुनि सालार कांदन मति माहाँ। ... ...
मिआँ सलोने सिंघ अपारू। ... ...
सेख बड़े बड़ सिद्ध बखाने। ... ...
चारिउ चतुरदसौ गुन पढ़े। औ संग जोग गोसाईं गढ़े।।'

[पद्मावत-छन्द सं०—२२/१-६]

किंवदन्ती है कि उनकी सन्ततियाँ भी थीं, किन्तु किसी दुर्घटना में सबकी मृत्यु हो गई जिससे जायसी में एक मानसिक विक्षुब्धता उत्पन्न हो आई। वे फकीर हो गए। अमेठी के राजा के ये कृपा पात्र भी थे और वहीं इनके जीवन की अन्तिम साँस भी टूटी। जायसी का मृत्यु काल भी विवादास्पद हैं तथापि इतना तो निश्चित ही है उनकी मृत्यु वृद्धावस्था में ही हुई होगी क्य कि, 'पद्मावत' के उपसंहार में उन्होंने वृद्धावस्था को जो चित्र प्रस्तुत किया है वह अनुभूति-प्रधान ही हो सकता है कल्पना-प्रसूत कदापि नहीं।

'पद्मावत' के अतिरिक्त 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' इन दो अन्य काव्यों के प्रणयन का श्रेय भी मलिक मुहम्मद जायसी को दिया जाता है। डा० माता प्रसाद गुप्त इस सन्दर्भ में एक अन्य काव्य-ग्रन्थ 'महरी बाईसी' को भी सम्मिलित करते हैं।

'अखरावट' अक्षरावट (ककहरा) पर लिखा गया एक सिद्धान्त-काव्य है जो काव्य-पक्ष की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। एक दोहा, एक सोरठा और तदुपरान्त सात अर्द्धालियों का क्रम छन्द की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस का वर्ण्य-विषय भी शुद्ध अध्यात्म-परक है। कवि ने सृष्टि का कारण, उसकी प्रक्रिया, मानव, शैतान (या माया), पंच महाभूतों आदि का यथा-क्रम वर्णन किया है जिस पर वेदान्त, योग, मीमांसा, भक्ति-पद्धति एवं इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। अन्त में चेला-गुरु-परिसंवाद' के रूप में प्रेम गाथाओं की चिरन्तनता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिल जाता है कि 'अखरावट' 'पद्मावत' के बाद की ही रचना होगी।

वैसे मसनवी-शैली का काव्य न होने के कारण शाहेवक्त के उल्लेख के अभाव में इसके रचना-काल के सम्बन्ध में भी कोई 'उल्लेख नहीं पाया जाता। 'अखरावट' ४७८ पंक्तियों का काव्य है, जिसमें जायसी ने जिस सूफी मत एवं विचारधारा का प्रतिपादन किया है वह भी उनका अपना ही है।

'अखिरी कलाम' को जायसी की अन्तिम काव्य रचना के रूप में माना जाता है, किन्तु इसके सन्दर्भ में कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं हैं। यह मसनवी-शैली में लिखा गया है और प्रारम्भ में शाहेवक्त के रूप में बाबर का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसमें कयामत (प्रलय काल) का वर्णन किया गया है तथा कवि ने भूकम्प और सूर्य-ग्रहण का भी उल्लेख किया है। प्रलय के बाद ईश्वर मुहम्मद पर कृपादृष्टि करते हैं और सभी मृतक जीवित हो उठते हैं और उनके कर्मों का लेखा-जोखा होता है; वह उन सभी को मुहम्मद की सिफारिश पर क्षमा करता है। इसमें स्वर्ग का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

"तहाँ न मीचु न नींद दुख रहा देह महँ रोग।
सदा अनंद मुहम्मद सब मानै सुन भोग।।

[आखिरी कलाम]

'कहरवा' राग या गीत पर आधारित 'कहरा नामा' को ही डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'महरी बाईसी' के नाम से अपने 'जायसी-ग्रन्थावली' में सम्मिलित किया है। उनका मत है कि—

"'महरी बाईसी' यह नाम मेरा ही दिया हुआ है, स्पष्ट नामोल्लेख कृति में नहीं है। केवल महरी गाने का उल्लेख कृति में जहाँ-तहाँ हुआ है, और इस कृति में कुल बाइस गीत हैं, इसलिए यह नाम दे दिया गया है।"

[जायसी ग्रन्थावली—पृ० १०४]

'महरी बाईसी' लोक गीतों पर आधारित एक अध्यात्म-परक काव्य ग्रन्थ हैं जिसमें संसार-सागर में पड़ी हुई जीवन नौका को मँझधार से निकाल ले जाने वाला ही सद्गुरु बताया गया है। महरा परमात्मा है और महरी

जीवात्मा है। अन्त में महरा और महरी के संयोग से कवि ने परमात्मा में जीवात्मा के विलीन हो जाने की व्यञ्जना की है। इसका प्रारम्भिक छंद इस प्रकार हैं —

"सुनो बिनति मैं किरति बखानौ महरा जस महराई रे।
गयेउ केवट को नाव चलावै को लागेउ गहराई रे॥

× × × ×

कहै मुहम्मद रहो सम्हारे पाव पानि में घालें रे।
टोइ-टोइ भुइँ पाँव उठाश्रो नाहि तो परि हौ खालें रे॥

[महरी बाईसी]

'जायसी' ग्रन्थावली में संग्रहीत 'पद्मावत' के अतिरिक्त उपर्युक्त 'अखरावट', 'आखिरी-कलाम' और 'महरी-बाईसी' आदि तीनों ही काव्य-रचनाएँ प्रामाणिकता की दृष्टि से अभी संदिग्ध ही हैं। किन्तु 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य के प्रेमाख्यान काव्य-परम्परा में शैली एवं विषय-वस्तु के प्रतिपादन इन दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी भाषा बोलचाल की अवधी, छंद चौपाई तथा दोहा, विषय प्रेम और उद्देश्य दो भिन्न संस्कृतियों का समन्वय कर पारस्परिक सद्भावना उत्पन्न करना ही है। 'पद्मावत' के रचना-काल से सम्बद्ध मतभेदों का निर्वचन पहले ही किया जा चुका है अतः अब उसके विभिन्न संस्करणों का संक्षिप्त परिचय भी जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

'पद्मावत' अपने मूल रूप में तो नागरी लिपि में ही लिखा गया किन्तु कालान्तर में फारसी लिपि में लिपिबद्ध हुआ और धीरे-धीरे लिपि जनित विकृतियों के कारण इसके पाठ एवं संस्करणों में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। डा० गुप्त ने अपनी ग्रन्थावली में निम्नलिखित दस संस्करणों का नामोल्लेख किया है—

(१) मौलवी अली हसन द्वारा सम्पादित संस्करण जिसकी तिथि अज्ञात है और जिसका प्रकाशन मु० नवल किशोर द्वारा हुआ।

(२) शेख अहमद अली द्वारा सम्पादित, तिथि अज्ञात एवं शेख मुहम्मद अजीम उल्लाह द्वारा कानपुर से प्रकाशित संस्करण ।

(३) पं० भगवती प्रसाद द्वारा सम्पादित, तिथि अज्ञात एवं नवल किशोर प्रेस, लखनऊ द्वारा प्रकाशित संस्करण ।

(४) नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से १८८१ में प्रकाशित संस्करण किन्तु सम्पादक अज्ञात । पाठ की दृष्टि से यह संस्करण अत्यन्त भ्रष्ट भी है ।

(५) राम जसन मिश्र द्वारा सम्पादित तथा चन्द्र प्रभा प्रेस काशी से १८८४ में प्रकाशित संस्करण किन्तु सम्प्रति अनुपलब्ध ।

(६) बंगवासी फर्म द्वारा १८६६ में प्रकाशित संस्करण जिसके सम्पादक का भी पता नहीं और जो अनुपलब्ध भी है ।

(७) पं० सुधाकर द्विवेदी की टीका सहित ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित एवं रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता द्वारा १८६६-१६११ में प्रकाशित (पद्मावत के प्रारम्भ से २७४ छंद तक का) संस्करण।

(८) आचार्य पं० राम चन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा १६२४ में प्रकाशित सस्करण ।

(६) डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित (शोध-प्रबन्ध) तथा पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर से १६३४ में प्रकाशित संस्करण ।

(१०) डा० लक्ष्मी धर द्वारा सम्पादित तथा लूजक एण्ड कम्पनी, लंदन द्वारा १६४६ में प्रकाशित संस्करण ।

उपर्युक्त सभी संस्करणों में प्रथम दो पाठ-सम्पादन की दृष्टि से कुछ उपयोगी हैं, चतुर्थ संस्करण सम्पादक द्वारा शुद्ध कर दिए जाने के कारण पाठ की दृष्टि से नितान्त भ्रष्ट और अनुपयोगी ही है । पाँचवाँ और छठाँ संस्करण अनुपलब्ध है ।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने संस्करण में यद्यपि सात प्रतिलिपियों का उल्लेख तो किया है किन्तु उनकी दृष्टि में आधार एवं आदर्श, प्रतिलिपि कार रहीम-

दाद खाँ शाहजहाँ पुर द्वारा फारसी लिपि में ११०६ हिजरी संवत में तैयार की गई मात्र १८४ पत्रों में पूर्ण प्रति रही, जो कामन वेल्थ रिलेशन्स आफिस लन्दन में सुरक्षित है। इसके साथ ही ग्रियर्सन महोदय पाठ-सम्पादन के सिद्धांतों से सर्वथा अपरिचित होने के कारण पाठ मिलान करने पर प्रतियों के बहुमत पाठ तक ही सीमित रह गए फलतः प्रतिलिपि-सम्बन्ध, प्रक्षेप-सम्बन्ध अथवा पाठान्तर-सम्बन्ध आदि की ओर उनका ध्यान ही न जा सका। पुनः पद्मावत की आदि प्रति नागरी लिपि में ही थी (देखिए जायसी ग्रन्थावली, पृ० सं० २६ डा० गुप्त संस्करण) जिनसे सम्बन्ध तीन अन्य प्रतिलिपियाँ भी उपलब्ध होती हैं और शेष फारसी अरबी लिपि में जिनसे उर्दू लिपि के रूपान्तर का क्रम बराबर चलता रहा और इस प्रकार पाठ भी निरन्तर भ्रष्ट होता ही गया। इस प्रकार ग्रियर्सन महोदय द्वारा सम्पादित संस्करण की प्रामाणिकता भी एकदेशीय एवं संदिग्ध सिद्ध होती है।

आचार्य शुक्ल द्वारा सम्पादित संस्करण भी विचारणीय है। शुक्ल जी ने अपने संस्करण के प्रारम्भिक वक्तव्य में अन्य उन चार संस्करणों का नामोल्लेख कर दिया है, जिनसे उन्हें अपने सम्पादन में सहायता मिली है। प्रथम, नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित; द्वितीय, पं० राम जसन मिश्र द्वारा सम्पादित तथा चन्द्रप्रभा प्रेस, काशी से प्रकाशित; तृतीय, कानपुर के किसी पुराने प्रेस से प्रकाशित (फारसी लिपि में); और, चतुर्थ म० म० पं० सुधाकार द्विवेदी और जार्ज ग्रियर्सन द्वारा सम्पादित रायल एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता से प्रकाशित (तृतीयांश मात्र)।

पाठों की शुद्धता तथा अर्थों की अन्विति आदि दोनों ही दृष्टियों से प्रथम दो संस्करण तो पहिले ही शुक्ल जी द्वारा निरर्थक घोषित कर दिए गये। तीसरा संस्करण भी उन्होंने इसी कोटि का ही माना है और अब शेष रहा ग्रियर्सन महोदय का 'भड़कीला' संस्करण जिसके सन्दर्भ में ऊपर पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। इन चार मुद्रित प्रतियों के अतिरिक्त वे कैथी-लिपि में लिखी एक अन्य हस्तलिखित प्रति का भी उल्लेख करते हैं, जिससे पाठ-निर्धारण में उन्हें कुछ सहायता मिली। शुक्ल जी का संस्करण जार्ज ग्रियर्सन के संस्करण

को ही अपना आदर्श मान कर चला है। प्रक्षिप्तांशों एवं प्रक्षिप्त छंदों के संदर्भ में भी वे कोई प्रमाण नहीं दे सके हैं। वस्तुतः उनका सम्पादन अनुमान प्रमाण तथा मुद्रित संस्करणों को लेकर चला है और हस्तलिखित प्रति के नाम पर उन्होंने एक ही प्रति का उपयोग भी किया, किस रूप में और किस मात्रा में, इसके प्रति भी वे मौन हैं। इस कारण प्रतिलिपि-परम्परा, प्रक्षेप-परम्परा और पाठान्तर-परम्परा आदि के आधार पर ग्रंथ के पाठ निर्धारण की बात ही, शुक्ल जी के संस्करण के संदर्भ में, नहीं उठती। ग्रन्थारम्भ की भूमिका रूप में जो १६८ पृष्ठों का आलोचनात्मक निबन्ध संलग्न है, उसी से इसका महत्त्व है।

डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित संस्करण भी अपनी शब्द सूची (Index) के कारण महत्वपूर्ण है, अन्यथा प्रस्तावना में ही सम्पादक ने ग्रियर्सन के संस्करण को प्रामणिक माना है और शुक्ल जी के संस्करण के संदर्भ में उसका मत है कि—"यह ग्रियर्सन के संस्करण से बहुत भिन्न है, और इसकी यह भिन्नता भी ग्रन्थ के पाठ और उसकी भाषा—दोनों के ही विषय में गलत दिशा में है।"

पं० भगवती प्रसाद पाण्डेय के संस्करण में यद्यपि चार अन्य संस्करणों (प्रथम, नवल किशोर प्रेस लखनऊ संस्करण; द्वितीय, कानपुर का कोई संस्करण तृतीय, ग्रियर्सन का संस्करण और चतुर्थ, आचार्य शुक्ल का संस्करण) का उल्लेख तो कर दिया गया है किन्तु सम्पादक ने शुक्ल जी के संस्करण को ही प्रामाणिक माना है, ि सके सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन ऊपर किया जा चुका है।

डा० लक्ष्मी धर द्वारा सम्पादित संस्करण वस्तुतः ग्रियर्सन की ही दिशा में प्रयास मात्र है। इसमें छंद सं० २७५ से ३७३ तक उसी अंश का सम्पादन किया गया है जो ग्रियर्सन के संस्करण में छूट गया था। सम्पादक ने इसमें मात्र छः हस्तलिखित प्रतियों तथा शुक्ल जी के मुद्रित संस्करण का उपयोग किया है। इसमें भी उसी प्रति को ही आदर्श माना गया है जिसे ग्रियर्सन ने अपने सम्पादन में आधार बनाया था, इस बात का स्पष्ट उल्लेख भी सम्पादक ने अपनी प्रस्तावना में कर दिया है। कुल मिलाकर १०६ छन्दों पर यह कार्य है जिसमें डा० गुप्त द्वारा प्रक्षिप्त सिद्ध किए गए सात छन्द भी मिले हुए हैं। सम्पादित पाठ का

अंग्रेजी अनुवाद भी किया गया हैं और परिशिष्ट में प्रक्षिप्त छन्दों का पाठ भी दे दिया गया है। इसका संस्करण का महत्व भी शब्द-सूची (Glossary) से ही है।

इसी क्रम में डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित तथा हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद से सन् १९५१ ई० में प्रकाशित 'जायसी ग्रन्थावली' का उल्लेख कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है। गुप्त जी ने अपने सम्पादित संस्करण में १४ हस्तलिखित प्रतियों तथा उपर्युक्त सभी संस्करणों का उल्लेख ही नहीं, उनका विस्तार से विवेचन भी किया है। साथ ही पूरे ग्रन्थ में उन्होंने जिन छन्दों को प्रक्षिप्त माना है, परिशिष्ट में उनकी एक लम्बी सूची भी दे दी है। प्रतिलिपि-सम्बन्ध, प्रक्षेप-सम्बन्ध तथा पाठान्तर-सम्बन्ध जो वैज्ञानिक पाठ सम्पादन के आधार-भूत सिद्धान्त हैं, उन सभी के आधार पर पाठ-निर्धारण के सम्बन्ध में उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है, प्रस्तुत काव्य-संकलन में इसी पाठ को प्रामाणिक माना गया है। यद्यपि भाष्य के सन्दर्भ में मेरा मतभेद रहा है जिसका उल्लेख किया जा चुका है (देखिये पद्मावत-सौरभ, पृष्ठ सं० ६ से ९ तक)।

'पद्मावत' प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से जायसी की सफल एवं लोक-प्रसिद्ध काव्य-रचना है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचरण के उरान्त मुहम्मद साहब का वर्णन कर कवि शाहे वक्त का उल्लेख करता है, तदुपरान्त गुरु-परम्परा क्रम में अपने सन्दर्भ में कुछ विशेष सूचना दे देने के अनन्तर ग्रन्थ के रचना-काल, उसकी कथावस्तु, भाषा और छन्द का वर्णन करता है पद्मावती और रत्नसेन की प्रेम-कथा ही 'पद्मावत' का प्राण है। इसकी कथावस्तु संक्षेप मे इस प्रकार है। सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की पुत्री पद्मावती का जन्म चम्पावती के कुक्ष से हुआ। बारह वर्ष में ही सकल-विद्या-निष्णात वह पद्मावती सुन्दरी में परिणत हो गई। अब पिता को कन्या के विवाह की चिन्ता होने लगती है। राजमहल में ही हीरामन नाम का एक शुक था, जो उससे बहुत घुला-मिला था, एक दिन पद्मावती उसके पास आकर अपनी काम-व्यथा का वर्णन करती है, किन्तु

हीरामन कहता है कि 'विधाता का लेख अमिट होता है, यदि कहो तो देश देशान्तर निकलूँ और तुम्हारे योग्य वर का अनुसन्धान करूँ । जब तक मैं लौट कर आऊँ, तब तक तुम अपने मन और चित्त को इस ओर से रोको ।' शुक हीरामन और पद्मावती के उपर्युक्त संवाद को कोई दुर्जन सुन रहा था जिसने सीधे राजा को आकर इस घटना की सूचना दी । राजाज्ञा हुई कि सुए को मार डाला जाय । पद्मावती ने अनुनय विनय कर सुए को बचा तो लिया किन्तु इधर सुए का मन खटक गया और उसने पद्मावती के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए विदा माँगी । राजकुमारी पद्मावती ने उसे राजभवन से न जाने दिया। एक दिन पूर्णिमा की तिथि पर पद्मावती अपनी सखी सहेलियों को साथ लेकर मानसरोवर के तट पर स्नान एवं जल-क्रीड़ा निमित्त गई हुई थी ।

उधर तो वह क्रीड़ा में मग्न थी और इधर राज-भवन में सुआ अवसर देखकर ढाक-वन को उड़ चला । वहाँ वह अन्य पक्षियों से मिला और सभी ने उसका अभिनन्दन किया । दस दिन भी आनन्द से न बीतने पाए थे कि उस वन में एक बहेलिया टटिया लिए हुए आया । सभी पक्षी तो उड़ चले किन्तु वह हीरामन अपनी अज्ञानता के कारण बहेलिये की छद्म-शाखा पर बैठ गया और बैठते ही उसके चंगुल में फँस गया । बहेलिए ने सुए को पकड़ कर उसके पंखों को तोड़ फोड़ कर अपने भावे में डाल लिया, जिसमें न जाने कितने पक्षी पड़े अपनी भूल पर रो रहे थे । हीरामन को देख सभी बरस पड़े कि 'हमने तो भूल से विष-चारा खाकर अपनी बुद्धि भ्रष्ट कर दी थी जिससे आज यह दिन देखना पड़ा, किन्तु पंडित होकर तू कैसे आ फँसा ?" प्रत्युत्तर में सुआ बोला कि 'अहंकार के झूले पर बैठने के कारण आज हमें भी इसमें फंसना पड़ा, यही सुख-भोग अज्ञान का मूल कारण है । एक दिन मरना भी है इसको भूल जाने के कारण ही यह फंदा पड़ा और रोना आ रहा है ।' ज्ञानी सुए को अन्य पक्षियों ने यह कहकर समझाया-बुझाया कि —'बहेलिए को दोष देना व्यर्थ है, यह दोष तो अपनी तृष्णा का ही है इसलिए मौन रहना ही श्रेयस्कर है ।" सिंहलद्वीप से चित्तौड़गढ़ की ओर व्यापारियों का एक बनजारा आ रहा था, संयोग से बहेलिए ने हीरामन को एक ब्राह्मण के हाथ

बेंच दिया जो लाभ की आशा में किसी से ऋण लेकर व्यापार करने निकाल था। ज्ञानी सुए को लेकर ब्राह्मण पुनः उसी बनजारे में आ मिला। तब तक चित्तौड़ गढ़ का राजा चित्रसेन स्वर्गस्थ हो चुका था और उसका एकमात्र पुत्र रत्नसेन वहाँ का राजा था। सुए की विद्वत्ता सुन राजा रत्नसेन ने एक लाख मुद्रा देकर ब्राह्मण से उसे खरीद लिया। ब्राह्मण व्यापारी आशीर्वाद देता हुआ चला गया और सुआ रत्नसेन के राजभवन में लाया गया। राजा उसे बहुत चाहता, जो राजभवन में सभी लोगों को विशेषकर रानी नागमती को अप्रिय लगता था।

कुछ दिन बाद ही जब राजा रत्नसेन आखेट को गया हुआ था, चित्तौड़गढ़ की पट्ट-महिषी रानी नागमती शृङ्गार कर हँसती हुई सुए के पास आई और बोली कि—'इस संसार में क्या मेरी जैसी रूपवती कोई दूसरी भी है ? हे सुए ! सच बता, तुझे राजा (रत्नसेन) की शपथ है।' नागमती के इस प्रश्न के समाधान में हीरामन ने सिंहलद्वीप की पद्मिनी कोटि की रानी पद्मावती के रूप सौंदर्य का स्मरण कर उसकी ओर देखा और हँस दिया। उत्तर रूप में उसने इतना ही कहा कि—'जिस सरोवर के तट पर हँस न आते हों, वहाँ बगुला ही हंस कहलाता है।' सुए के मुख से सिंहलद्वीप की पद्मिनियों का सौंदर्य वर्णन सुन नागमती क्रुद्ध होने के साथ-साथ चिन्तित भी हुई कि यदि इस सुए ने कभी राजा से यह वृत्तान्त कह सुनाया तो वह सुनते ही योगी होकर सिंहलद्वीप के लिए प्रस्थान कर जायगा। ऐसा विचार कर उसने धाय को बुलाकर सुआ यह कहते हुए सौंप दिया कि 'वहाँ ले जाकर इसे मार डाल, जहाँ कोई भी साक्षी न हो।' धाय सुए को मारने लिए ले तो गई किन्तु यह सोच कर कि यह राजा का प्रिय-पात्र है, उसने उसे मारने के बजाय छिपा कर किसी जगह रख दिया।

आखेट से आते ही राजा ने सुए को याद किया किन्तु रानी ने यह कर उसे सन्तुष्ट करना चाहा कि उस दुष्ट सुए को तो बिल्ली ले गई। राजा को सन्देह हुआ और वह क्रुद्ध हो गया। राजा के क्रोध में आते ही किंकर्तव्य-विमूढ़ रानी धाय ने को सुआ सौंप कर आश्वस्त किया। सुआ पाते ही राजा ने

उससे सारा वृत्तान्त पूछा। उसी प्रसंग में सुए ने सिंहलद्वीप, उसका ऐश्वर्य, वहाँ के सुख-भोग तथा पद्मावती के रूप सौंदर्य का मर्मस्पर्शी वर्णन किया। पद्मावती के सौंदर्य का नख-शिख वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया। उसके हृदय में पद्मावती के लिए प्रेम अंकुरित हो उठा और मूर्च्छा टूटने पर वह अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था में 'प्रेम' की ही रट लगाने लगा। सभी ने अपने अपने-अपने ढंग से बहुत कुछ समझाया, किन्तु राजा किसी की बात सुनता ही न था। 'पद्मावती' के 'प्रेम की पीर' को अपने हृदय में सँजोए हुए रत्नसेन ने हीरामन को अपना गुरु मान कर राज-पाट छोड़ दिया। विरह की अनुभूति के कारण वह पद्मावती रूपी सिद्धि की प्राप्ति के लिए योग की साधना में कायिक विकारों को दूर करने के निमित्त योगी रूप धारण कर लिया। सिर पर जटा, देह पर चन्दन, एवं राख, कानों में मुद्रा, मेखला, शृङ्गी, चक्र, धंधारी, रुद्राक्ष माला, व्याघ्र चर्म, कमण्डल, कण्ठीमाला, आदि के साथ-साथ वस्त्र के नाम पर कथा धारण कर लिया। हाथों में खप्पर, पाँवों में पाँवरी एवं सिर पर छत्र धारण कर ज्योतिषियों द्वारा बताई गई शुभ वेला में वह सोलह सहस्र राजकुमारों के साथ सिंहलद्वीप की ओर चल पड़ा। उसकी माता सरस्वती तथा रानी नागमती ने बहुत रोका, रनिवास रो उठा किन्तु रत्नसेन के हृदय में तो पद्मावती ही थी, उसका रुकना तो अब असम्भव ही था।

सिंहलद्वीप की ओर प्रस्थान करते हुए रत्नसेन को शुभ शकुन हुए। योगियों का यह समुदाय हीरामन के नेतृत्व में मध्य-प्रदेश पार करते हुए कलिंग देश जा पहुँचा। वहाँ गजपति से समुद्री बेड़े को प्राप्त कर तथा मार्ग की विपत्तियों के विषय में समझ-बूझकर राजा रत्नसेन आगे सिंहलद्वीप के मार्ग पर प्रशस्त हुआ। क्षार, क्षीर ,दधि, उदधि, सुरा किलकिला और मान-सर इन सप्त-समुद्रों के व्यवधानों को पार कर अन्त में सत्यनिष्ठ रत्नसेन सोलह सहस्र राजकुमार योगियों को अपने साथ लिए हुए सिंहलद्वीप के निकट आ पहुँचा। सभी योगी महादेव के मन्दिर में योग-साधना करने लगे और सुआ रत्नसेन को यह आश्वासन देकर कि 'बसन्त पंचमी के दिन पद्मावती यहाँ पूजन करने आएगी तभी तेरी इच्छा पूर्ण होगी ?' पद्मावती के पास चला गया।

शिव के मण्डप में इधर रत्नसेन 'पद्मावती' के नाम का जप कर रहा था और उधर उसके योग के प्रभाव से पद्मावती को प्रेम जन्य विरह की अनुभूति होने लगी, उसका यौवन तरंगायित होने लगा। तभी हीरामन वहाँ आ पहुँचा और पद्मावती में पुनः प्राण-सञ्चरित हो उठा। प्रेम विह्वल हो वह रो उठी और और सुए से उसका कुशल-क्षेम पूँछा। सम्पूर्ण वृत्तान्त-वर्णन में सुए ने बड़ी सतर्कतापूर्वक रत्नसेन के वैभव, ऐश्वर्य, मनोबल एवं प्रेम का वर्णन किया और साथ ही यह भी कहा कि—'दोनों की जोड़ी तो अब दैव के ही आधीन है।' यह सुनते ही पद्मावती 'प्रेम की पोर' में पग उठी, उसे भी अब विरह की अग्नि जलाने लगी किन्तु तभी सुए ने यह कहते हुए धैर्य बँधाया कि 'रत्नसेन भी उसी के प्रेम में बावला हुआ योगीवेश में राज-पाट का परित्याग कर शिव के मण्डप तक आ पहुँचा हैं।' रत्नसेन के एक-निष्ठ प्रेम को सुन पद्मावती ने वचन दिया कि वसंतोत्सव के दिन पूजा के बहाने मन्दिर में आएगी और रत्नसेन को ही जयमाल देगी।' कृतकृत्य होकर सुए ने वापस मन्दिर में आकर रत्नसेन से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वसन्त-पंचमी के दिन सखियों को साथ ले पद्मावती शिव मन्दिर को गई। देव-प्रतिमा का अर्चन-वन्दन करने के उपरान्त उसने योग्य वर की प्राप्ति के निमित्त कलश चढ़ाने की मनौती की तभी एक सखी हँसती हुई आई और बोली कि 'मण्डप के पूर्व द्वार पर योगियों की भीड़ सी लगी है, ये सभी बत्तीसों लक्षणों से युक्त राजकुमार प्रतीत होते हैं; ऐसे योगी तो आज तक नहीं दिखाई पड़े।' सखी की बात सुनकर पद्मावती वहाँ पहुँची। रत्नसेन वैसा ही था जैसा सुए ने बताया था।

योगी रत्नसेन पद्मावती को देखते ही मूर्च्छित हो गया, पद्मावती ने उसके शरीर पर चन्दन-लेप किया जिससे उसे शीतलता मिले और वह उठ बैठे किन्तु व्यर्थ; योगी न उठा और निराश पद्मावती उसके हृदय पर चन्दन से यह लिख कर कि—'मनोनुकूल भिक्षा प्राप्ति के योग्य योग तो तूने अभी भी नहीं सीखा' वापस लौट गई। मूर्च्छा टूटने पर रत्नसेन पश्चात्ताप करने लगा, देवताओं पर दोषारोपण करता हुआ वह जल मरने को उद्यत हुआ। देवों को चिंता हुई और वे सभी शङ्कर-पार्वती के समक्ष आकर योगी को उसके संकल्प से रोकने की प्रार्थना

क्रुद्ध हो उठा, इसी बीच योगियों का समूह युद्ध के लिए बढ़ा ही था कि राजा के हाथियों की सेना ने उसका मार्ग अवरुद्ध करना चाहा, किन्तु हनुमान ने अपनी पूँछ में लपेट कर आकाश में फेंक दिया। गंधर्वसेन को तब आश्चर्य हुआ जब उसने युद्ध-स्थल में योगियों की ओर साक्षा शिव को देखा। महादेव का घंटा भी ध्वनित हो उठा किन्तु तभी गंधर्वसेन क्षमा याचना करता हुआ शिव के पैरों पर जा गिरा। हीरामन सुए ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया और गंधर्व सेन ने भी बत्तीसों लक्षणों से युक्त राजा रत्नसेन को पद्मावती के योग्यतम वर के रूप में प्राप्त कर टीका कर दिया। पूरे विधि-विधान के साथ रत्नसेन और पद्मावती का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। और रत्नसेन के साथ आए हुए सोलहों सहस्र राज-कुमारों को भी एक-एक पद्मिनी स्त्री उपलब्ध हुई और सभी ने सिंहलद्वीप में रह कर जीवन का सुख और भोग प्राप्त किया।

विरहिणी नागमती रत्नसेन का मार्ग देखती ही रही और इस प्रकार प्रतीक्षा में पूरा एक वर्ष व्यतीत हो गया। उसकी आँखों से अविरल अश्रु-धार प्रवाहित होती रही किन्तु, प्रिय नहीं लौटा। 'मानुष घर-घर' पूँछ कर जब वह थक गई तो वह पक्षियों से प्रवासी प्रिय का अभिज्ञात पूँछने निकली। संयोगवश आधी रात में उसकी विरह-पीड़ा से मर्माहत हो एक पक्षी उसके दुःख का कारण पूँछ ही बैठा। सदय पक्षी के प्रश्न के समाधान में नागमती ने अपनी विरह-व्यथा संक्षेप में कह सुनाई और अपना संदेश भी रत्नसेन के नाम भेज दिया। उस विरह-संदेश को लिए हुए पक्षी सीधे सिंहलद्वीप आया और उसी वृक्ष के ऊपर जा बैठा जिसके नीचे रत्नसेन आखेट करता हुआ संयोग से आने वाला था। वृक्ष के ऊपर बैठे हुए पक्षियों ने उस पक्षी के विषय में जानना चाहा तो उसने कहा कि 'मैं जम्बूद्वीप के चित्तौड़ नगर से आ रहा हूँ। वहाँ का राजा रत्नसेन सिंहलद्वीप के लिए निकल पड़ा किन्तु उसकी विरहिणी ऐसी विरहाग्नि से ग्रस्त है जिसका वर्णन नहीं किया जाता, बस उसी में दग्ध हो जाने के कारण मैं इतना काला हो गया हूँ।' पक्षी की बात सुन रत्नसेन उसकी ओर अभिमुख हुआ और अपना परिचय दिया। जम्बूद्वीप का वृत्तान्त सुनने के अनन्तर सिंहलद्वीप से उसका मन विमुख हो उठा और पद्मावती के साथ ले

कर वह वापस चित्तौड़गढ़ की ओर चल पड़ा। सिंहलद्वीप से प्रस्थान करते समय गंधर्वसेन ने उसे बहुत से रत्न-पदार्थ और द्रव्यादिक प्रदान किए। सम्पत्ति को देख राजा के मन में लोभ जनित गर्व का संचार हुआ। स्वयं समुद्र रत्नसेन के सम्मुख याचक रूप में आया किन्तु तिरस्कृत हुआ। इसी अहंकार के परिणाम-स्वरूप अभी रत्नसेन का बोहित (बेड़ा) बीच समुद्र में भी नहीं पहुँचा था कि भयंकर तूफान आया और बोहित दक्षिण दिशा की ओर जा पहुँचा। एक राक्षस, जो कि विभीषण का माँझी था, वहाँ मगर-मच्छा-दिक का शिकार करता हुआ आ पहुँचा। बहुत दिनों के बाद सुन्दर भोजन देखने के कारण वह मन में तो प्रसन्न हुआ और ऊपर से मैत्री-भाव दिखाता हुआ रत्नसेन से बोला कि—'मित्र ! तुम तो पथ-भ्रष्ट हो, तुम्हें किस दिशा में जाना है ? मैं तुम्हारा सेवक ही हूँ, कहो तो मैं तुम्हें सही रास्ते पर लगा दूँ।'

किंकर्त्तव्य-विमूढ़ राजा के समक्ष अन्य कोई विकल्प भी न था। राक्षस बहका कर उसका बोहित न जाने किस अथाह समुद्र की ओर ले बढ़ा। बोहित भँवर में चक्कर खाने लगा और राजा के साथियों का क्या कहना जबकि हाथी, घोड़े तक उसमें डूबने उतराने लगे। राक्षस अट्टहास करने लगा कि तभी एक राज-पक्षी गम्भीर गर्जना करता हुआ आया और उसे ले उड़ा। बोहित खण्ड-खण्ड हो गया। समुद्री लहरें एक ओर राजा रत्नसेन को और दूसरी ओर रानी पद्मावती को बहा ले गईं। मूर्च्छितावस्था में पद्मावती को समुद्र-कन्या लक्ष्मी ने प्राप्त किया और वहीं उसका औषधि उपचार भी किया जाने लगा। मूर्च्छा टूटते ही वह 'प्रिय' कर स्मरण का विलाप करने लगी। लक्ष्मी के किसी प्रकार समझाया बुझाया। उधर रत्नसेन भी जल-प्रवाह में फँस एक ऐसे कपूर और मूँगें के टीले पर जा टिका, जहाँ पक्षी तक भी नहीं जाते थे। उसे जितना दुःख मिथ्या गर्व करने का था, सम्पत्ति के चले जाने का उतना नहीं। 'पद्मा-वती' को रटते हुए रत्नसेन ने कटार निकाल ली और अपने गर्दन पर मारने ही जा रहा था कि इतने में ब्राह्मण वेष में स्वयं समुद्र प्रकट हुआ और उसने उससे आँख मूँदने को कहा। आँख बन्द करते ही रत्नसेन समुद्र की सहायता

शिव के मण्डप में इधर रत्नसेन 'पद्मावती' के नाम का जप कर रहा था और उधर उसके योग के प्रभाव से पद्मावती को प्रेम जन्य विरह की अनुभूति होने लगी, उसका यौवन तरंगायित होने लगा। तभी हीरामन वहाँ आ पहुँचा और पद्मावती में पुनः प्राण-सञ्चरित हो उठा। प्रेम विह्वल हो वह रो उठी और और सुए से उसका कुशल-क्षेम पूँछा। सम्पूर्ण वृत्तान्त-वर्णन में सुए ने बड़ी सतर्कतापूर्वक रत्नसेन के वैभव, ऐश्वर्य, मनोबल एवं प्रेम का वर्णन किया और साथ ही यह भी कहा कि—'दोनों की जोड़ी तो अब दैव के ही आधीन है।' यह सुनते ही पद्मावती 'प्रेम की पोर' में पग उठी, उसे भी अब विरह की अग्नि जलाने लगी किन्तु तभी सुए ने यह कहते हुए धैर्य बँधाया कि 'रत्न-सेन भी उसी के प्रेम में बावला हुआ योगीवेश में राज-पाट का परित्याग कर शिव के मण्डप तक आ पहुँचा हैं।' रत्नसेन के एक-निष्ठ प्रेम को सुन पद्मावती ने वचन दिया कि वसंतोत्सव के दिन पूजा के बहाने मन्दिर में आएगी और रत्नसेन को ही जयमाल देगी।' कृतकृत्य होकर सुए ने वापस मन्दिर में आकर रत्नसेन से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। वसन्त-पचमी के दिन सखियों को साथ ले पद्मावती शिव मन्दिर को गई। देव-प्रतिमा का अर्चन-वन्दन करने के उपरान्त उसने योग्य वर की प्राप्ति के निमित्त कलश चढ़ाने की मनौती की तभी एक सखी हँसती हुई आई और बोली कि 'मण्डप के पूर्व द्वार पर योगियों की भीड़ सी लगी है, ये सभी बत्तीसों लक्षणों से युक्त राजकुमार प्रतीत होते हैं; ऐसे योगी तो आज तक नहीं दिखाई पड़े।' सखी की बात सुनकर पद्मावती वहाँ पहुँची। रत्नसेन वैसा ही था जैसा सुए ने बताया था।

योगी रत्नसेन पद्मावती को देखते हो मूर्च्छित हो गया, पद्मावती ने उसके शरीर पर चन्दन-लेप किया जिससे उसे शीतलता मिले और वह उठ बैठे किन्तु व्यर्थ; योगी न उठा और निराश पद्मावनी उसके हृदय पर चन्दन से यह लिख कर कि—'मनोनुकूल भिक्षा प्राप्ति के योग्य योग तो तूने अभी भी नहीं सीखा' वापस लौट गई। मूर्च्छा टूटने पर रत्नसेन पश्चात्ताप करने लगा, देवताओं पर दोषारोपण करता हुआ वह जल मरने को उद्यत हुआ। देवों को चिंता हुई और वे सभी शङ्कर-पार्वती के समक्ष आकर योगी को उसके संकल्प से रोकने की प्रार्थना

करने लगे। उसी क्षण कोढ़ी का वेश धारण कर बैल पर सवार हो भगवान शंकर पार्वती के साथ योगी के समक्ष प्रकट हुए। पार्वती ने योगी के प्रेम-परीक्षण के निमित्त अप्सरा का वेश धारण कर रखा था। कोढ़ी के समझाने पर चली गई तो भी जब योगी का संकल्प शिथिल न हुआ, तब अप्सरा (पार्वती) बोली कि 'पद्मावती यदि क्या हुआ ? इन्द्र ने मुझे तेरे लिए भेजा है, तू जीवन-पर्यन्त मेरे साथ भोग कर मुझे त्याग कर उस (निष्ठुर पद्मावती) के लिए यदि प्राणों का परित्याग भी कर दे तो क्या लाभ ?' किन्तु योगी अपने प्रेम-प्रण से विचलित न हुआ। अन्त में पावती के कहने से महेश को भी उसके ऊपर दया आई और उन्होंने प्रसन्न होकर उसे 'सिद्धि गुटिका' दी।

भगवान शंकर द्वारा प्राप्त 'सिद्धि गुटिका' के सहारे योगी रत्नसेन ने अपने सभी सहयोगियों के साथ जाकर सिंहलद्वीप का राज-गढ़ घेर लिया। गढ़ पर चढ़ते हुए योगियों को देख गन्धर्व सेन के दूतों ने योगियों को रोकना चाहा किन्तु न रोक सके और आकर राजा से सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इधर सुए के माध्यम से पद्मावती ने अपना प्रेम संदेश रत्नसेन के पास भेजा जिससे उसका मनोबल बढ़ा। योगी का दुस्साहस देख क्रुद्ध गंधर्वसेन ने चौबीस लाख क्षत्र-पतियों के नेतृत्व में छप्पन करोड़ सैनिकों का दल सजवाया जिसमें बाइस हजार सिंघली हाथियों का समुदाय भी था और इस प्रकार उसने युद्ध की घोषणा कर दी। यह सुन पद्मावती मूच्छित हो उठी। हीरामन बुलाया गया, उसने सम-झाया बुझाया और योगी रत्नसेन की अजेय करनी का वर्णन कर आवश्स्त किया।

योगी को बाँध कर शूली-स्थल पर लाया गया। पद्मावती का नाम-जप करते हुए योगी ने आसन लगाया और उधर महादेव का आसन भी हिल गया। वे भाँट के रूप में (भाँटिनी रूप) पार्वती के साथ उस स्थान पर आए। इधर हीरामन योगी के पास पद्मावती का प्रेम-सन्देश लेकर पहुँचा। भाँट ने गंधर्वसेन को अनेक प्रकार से समझाया और कहा कि—'योगी वास्तव में सिंहलद्वीप का राजा रत्नसेन है और पदमावती के योग्य वर है।' यह सुन गन्धर्वसेन और भी

क्रुद्ध हो उठा, इसी बीच योगियों का समूह युद्ध के लिए बढ़ा ही था कि राजा के हाथियों की सेना ने उसका मार्ग अवरुद्ध करना चाहा, किन्तु हनूमान ने अपनी पूँछ में लपेट कर आकाश में फेंक दिया। गंधर्वसेन को तब आश्चर्य हुआ जब उसने युद्ध-स्थल में योगियों की ओर साक्षा शिव को देखा। महादेव का घंटा भी ध्वनित हो उठा किन्तु तभी गंधर्वसेन क्षमा याचना करता हुआ शिव के पैरों पर जा गिरा। हीरामन सुए ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया और गंधर्व सेन ने भी बत्तीसों लक्षणों से युक्त राजा रत्नसेन को पद्मावती के योग्यतम वर के रूप में प्राप्त कर टीका कर दिया। पूरे विधि-विधान के साथ रत्नसेन और पद्मावती का विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। और रत्नसेन के साथ आए हुए सोलहों सहस्र राज-कुमारों को भी एक-एक पद्मिनी स्त्री उपलब्ध हुई और सभी ने सिंहलद्वीप में रह कर जीवन का सुख और भोग प्राप्त किया।

विरहिणी नागमती रत्नसेन का मार्ग देखती ही रही और इस प्रकार प्रतीक्षा में पूरा एक वर्ष व्यतीत हो गया। उसकी आँखों से अविरल अश्रु-धार प्रवाहित होती रही किन्तु, प्रिय नहीं लौटा। 'मानुष घर-घर' पूँछ कर जब वह थक गई तो वह पक्षियों से प्रवासी प्रिय का अभिज्ञात पूँछने निकली। संयोगवश आधी रात में उसकी विरह-पीड़ा से मर्माहत हो एक पक्षी उसके दुःख का कारण पूँछ ही बैठा। सदय पक्षी के प्रश्न के समाधान में नागमती ने अपनी विरह-व्यथा संक्षेप में कह सुनाई और अपना संदेश भी रत्नसेन के नाम भेज दिया। उस विरह-संदेश को लिए हुए पक्षी सीधे सिंहलद्वीप आया और उसी वृक्ष के ऊपर जा बैठा जिसके नीचे रत्नसेन आखेट करता हुआ संयोग से आने वाला था। वृक्ष के ऊपर बैठे हुए पक्षियों ने उस पक्षी के विषय में जानना चाहा तो उसने कहा कि 'मैं जम्बूद्वीप के चित्तौड़ नगर से आ रहा हूँ। वहाँ का राजा रत्नसेन सिंहलद्वीप के लिए निकल पड़ा किन्तु उसकी विरहिणी ऐसी विरहाग्नि से ग्रस्त है जिसका वर्णन नहीं किया जाता, बस उसी में दग्ध हो जाने के कारण मैं इतना काला हो गया हूँ।' पक्षी की बात सुन रत्नसेन उसकी ओर अभिमुख हुआ और अपना परिचय दिया। जम्बूद्वीप का वृत्तान्त सुनने के अनन्तर सिंहलद्वीप से उसका मन विमुख हो उठा और पद्मावती के साथ ले

कर वह वापस चित्तौड़गढ़ की ओर चल पड़ा। सिंहलद्वीप से प्रस्थान करते समय गंधर्वसेन ने उसे बहुत से रत्न-पदार्थ और द्रव्यादिक प्रदान किए। सम्पत्ति को देख राजा के मन में लोभ जनित गर्व का संचार हुआ। स्वयं समुद्र रत्नसेन के सम्मुख याचक रूप में आया किन्तु तिरस्कृत हुआ। इसी अहंकार के परिणाम-स्वरूप अभी रत्नसेन का बोहित (बेड़ा) बीच समुद्र में भी नहीं पहुँचा था कि भयंकर तूफान आया और बोहित दक्षिण दिशा की ओर जा पहुँचा। एक राक्षस, जो कि विभीषण का माँझी था, वहाँ मगर-मच्छा-दिक का शिकार करता हुआ आ पहुँचा। बहुत दिनों के बाद सुन्दर भोजन देखने के कारण वह मन में तो प्रसन्न हुआ और ऊपर से मैत्री-भाव दिखाता हुआ रत्नसेन से बोला कि—'मित्र ! तुम तो पथ-भ्रष्ट हो, तुम्हें किस दिशा में जाना है ? मैं तुम्हारा सेवक ही हूँ, कहो तो मैं तुम्हें सही रास्ते पर लगा दूँ।'

किंकर्त्तव्य-विमूढ़ राजा के समक्ष अन्य कोई विकल्प भी न था। राक्षस बहका कर उसका बोहित न जाने किस अथाह समुद्र की ओर ले बढ़ा। बोहित भँवर में चक्कर खाने लगा और राजा के साथियों का क्या कहना जबकि हाथी, घोड़े तक उसमें डूबने उतराने लगे। राक्षस अट्टहास करने लगा कि तभी एक राज-पक्षी गम्भीर गर्जना करता हुआ आया और उसे ले उड़ा। बोहित खण्ड-खण्ड हो गया। समुद्री लहरें एक ओर राजा रत्नसेन को और दूसरी ओर रानी पद्मावती को बहा ले गईं। मूर्च्छितावस्था में पद्मावती को समुद्र-कन्या लक्ष्मी ने प्राप्त किया और वहीं उसका औषधि उपचार भी किया जाने लगा। मूर्च्छा टूटते ही वह 'प्रिय' कर स्मरण का विलाप करने लगी। लक्ष्मी के किसी प्रकार समझाया बुझाया। उधर रत्नसेन भी जल-प्रवाह में फँस एक ऐसे कपूर और मूँगे के टीले पर जा टिका, जहाँ पक्षी तक भी नहीं जाते थे। उसे जितना दुःख मिथ्या गर्व करने का था, सम्पत्ति के चले जाने का उतना नहीं। 'पद्मा-वती' को रटते हुए रत्नसेन ने कटार निकाल ली और अपने गर्दन पर मारने ही जा रहा था कि इतने में ब्राह्मण वेष में स्वयं समुद्र प्रकट हुआ और उसने उससे आँख मूँदने को कहा। आँख बन्द करते ही रत्नसेन समुद्र की सहायता

से उसी तट पर आ पहुँचा जहाँ पद्मावती थी। रत्नसेन के प्रेम की परीक्षा करने के लिए लक्ष्मी पद्मावती के रूप में उसके समुख आई किन्तु रत्नसेन ने उसे देखा तक नहीं। तदुपरान्त रत्नसेन का पद्मावती से मिलन हुआ और प्रसन्न होकर समुद्र ने उसकी सारी सम्पत्ति वापस कर दी। विदा देते समय समुद्र ने उसे अमृत, हंस, राज पक्षी, शार्दूल और पारस पत्थर इन पञ्च पदार्थों को भी प्रदान किया। इस प्रकार रत्नसेन पद्मावती को लिए हुए चित्तौड़गढ़ के जैसे ही निकट पहुँचा, नागमती को शुभ शकुन हुए। पद्मावती और नागमती में सपत्नी ईर्ष्या-भाव के कारण कलह और वैमनस्य भी उत्पन्न होने लगा किन्तु राजा ने दोनों को शान्त किया। इस प्रकार चित्तौड़ में रहते हुए रत्नसेन को नागमती से नागसेन और पदमावती से कमलसेन नाम के दो पुत्र-रत्न भी प्राप्त हुए।

उस समय चित्तौड़ में राघव चेतन नाम का एक ब्रह्मण पण्डित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। वेद-विरुद्ध आचरण के आरोप में रत्नसेन ने दण्ड स्वरूप उसे देश-निकाला दे दिया क्योंकि यक्षिणी के प्रभाव से उसने बिना तिथि के ही आकाश में द्वितीया का चन्द्रमा दिखलाया था। ऐसे गुणी एवं योग्य पण्डित के प्रति राजा का कोप देख कर पद्मावती को अप्रिय लगा। एक दिन सूर्य ग्रहण के दिन उसने राघव चेतन को बुलवाया और उसके प्रति अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करने के निमित्त अपने एक हाथ का कंकण, जो अद्वितीय था, झरोखे से ही फेंक कर दे दिया। झरोखे पर खड़ी पद्मावती का अप्रतिम रूप सौन्दर्य देख राघव चेतन मूच्छित होकर वहीं गिर पड़ा। पुनः चेतना में आते ही उसने कंकण को उठा लिया और दिल्ली जाने वाले मार्ग पर प्रतिशोध की भावना से भरा हुआ यह सोच कर चल पड़ा कि वहाँ पहुँच कर वह अला-उद्दीन से रानी पद्मावती के सौन्दर्य वर्णन द्वारा रत्नसेन के विरुद्ध विद्रोह करवाएगा।

राघव चेतन दिल्ली पहुँचा और पद्मावती के दिए हुए कंकण को साक्षी देकर उसने उसके रूप सौन्दर्य का वर्णन किया। सुनते ही अलाउद्दीन मूच्छित हो उठा और उसे पाने के लिए आतुर हो उठा। राघव चेतन ने अपना कार्य

सिद्ध होते देख रत्नसेन के उन पाँचों बहुमूल्य पदार्थों का भी वर्णन किया, जिन्हें समुद्र ने दिए थे। बादशाह ने राघव को मैत्री का पान प्रस्तुत करते हुए उसे सभी प्रकार से सत्कृत किया और यह भी आश्वासन दिया कि यदि उसे पद्मावती मिल जायगी तो वह राघव को चित्तौड़ का राजा बना देगा। तदुपरान्त बादशाह ने सरजा नामक एक दूत के हाथ रत्नसेन के नाम एक पत्रिका भेजी कि—'सिंहलद्वीप की उस पद्मिनी को शीघ्र ही भेज दो।' यह सन्देश पाते ही रत्नसेन आग-बबूला हो उठा। उसने दूत को बिगड़ते हुए वापस दिल्ली भेज दिया। दूत के आते ही सारा वृत्तान्त सुन कर बादशाह भी क्रुद्ध हो उठा और आवेश में आ चित्तौड़ पर हमला बोल दिया। दोनों ही पक्षों की सेनाएँ लड़ती रहीं और यह घमासान युद्ध आठ वर्षों तक चला। बादशाह का घेरा चित्तौड़ पर पड़ा रहा, तभी उसे एक युक्ति सूझी। उसने रत्नसेन के पास सन्धि का प्रस्ताव यह लिख कर भेजा कि उसे समुद्र से प्राप्त पञ्च-पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं चाहिए। राजा ने बादशाह के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

संधि का यह प्रस्ताव राजा ने आमोद-प्रमोद के साथ सम्पन्न किया। और अतिथि रूप में आए हुए बादशाह को भोज मे आमंत्रित किया गोरा और बादल नामक दोनों सरदारों ने बादशाह की युक्ति का अनुमान लगा लिया और उन्होंने रत्नसेन के इस प्रस्ताव पर अपना मतभेद भी प्रकट किया। राजा ने सुनी-अनसुनी कर दी, फलतः दोनों सरदार उस भोज में नहीं सम्मिलित हुए। बादशाह का स्वागत सम्मान चलता रहा। एक दिन बादशाह पुष्पवाटिका की ओर जा पहुँचा राघव भी उसके साथ ही था। स्वागत में खड़ी पद्मिनी दासियों को देख बादशाह ने पूछा कि 'इनमें से पद्मावती कौन है ?' राघव ने बताया कि 'ये सभी तो उसकी दासियाँ है।' निराश बादशाह को एक युक्ति सूझी। उसने रत्नसेन को शतरंज पर आमंत्रित किया। खेलते समय सामने दीवार पर एक दर्पण लगा हुआ था, जिसमें पद्मावती का प्रतिबिम्ब देख बादशाह मूच्छित हो गया। राघव चेतन तो सारी गति-विधियों से अवगत था, किन्तु रत्नसेन समझ न सका। प्रस्थान की बेला भी आ गई। राघव-चेतन ने

अवसर देख अलाउद्दीन को रत्नसेन को बंदी कर लेने का संकेत किया, फलतः राजा रत्नसेन अलाउद्दीन की सशस्त्र सेना द्वारा बन्दी कर लिया गया।

अलाउद्दीन बन्दी रत्नसेन को दिल्ली ले आया। इसके हाथों में हथकड़ी, गले में शृङ्खला और पाँवों में बेड़ी डाल उसे बन्दीगृह में डाल दिया गया। इधर चित्तौड़ में हा-हाकर मच गया, रनिवास रो उठा और नागमती तथा पद्मावती दोनों ही रानियाँ प्रियतम रत्नसेन के विरह में तड़प उठीं। रत्नसेन के बन्दी होते ही कुंभलनेर के राजा देवपाल (जो उसका कट्टर शत्रु था) ने पद्मावती को पथ-भ्रष्ट करने के निमित्त कुमुदिनी नाम की एक वृद्धा ब्राह्मणी दूती को भेजा। दूती ने अपना छद्म-परिचय दिया और उसे अपने मायके की सुन पद्मावती उसके गले लग खूब रोयी, किन्तु बाद में जब दूती का रहस्य खुला तो पद्मावती ने उसे तिरस्कृत कर चित्तौड़ बाहर कर दिया। कुछ ही दिन बाद बादशाह अलाउद्दीन ने भी एक दूती योगिनी के वेश में पद्मावती के पास इस आशय से भेजी कि वह उसे अपनी शिष्या बना कर गुप्त रूप से बन्दी रत्न-सेन से भेंट कराने का प्रलोभन देकर बन्दीगृह तक लिवा लाए। किन्तु बादशाह की यह युक्ति भी असफल सिद्ध हुई।

निराश पद्मावती अंत में गोरा और बादल के द्वार पर आई और उन दोनों ही वीर-योद्धाओं के समक्ष रोते हुए उसने अपनी विरह-बेदना व्यक्त की। गोरा और बादल का हृदय द्रवित हो उठा और उन दोनों ने भी बन्दीगृह से रत्नसेन को मुक्त करने की एक युक्ति सोची। गोरा का पुत्र बादल जो अभी नवयुवक ही था, को उसकी माँ ने भी रोका और उसकी नवागता-वधू ने भी, किन्तु बादल अपने संकल्प से विचलित न हुआ। गोरा और बादल ने यही निश्चय कि जिस छल द्वारा बादशाह ने रत्नसेन को बन्दी किया, उसी छल से वे दोनों भी उसे मुक्त करेंगे। सोलह सौ पालकियों में सशस्त्र राजपूत सैनिकों को बिठा दिया गया जिन्हें बत्तीस सहस्र घोड़े खींच रहे थे, और पद्मावती के चतुर्दोल-विमान (पालकी) में एक लोहार पद्मावती की वेश-भूषा में बैठाया गया। दासियाँ उस पर चँवर डुलाने लगीं और इस प्रकार गोरा और बादल के नेतृत्व में सभी दिल्ली तक पहुँचे। गोरा ने पहले ही पहुँच कर किले के द्वार-रक्षकों को दस

लाख मुद्रा देकर अपने अनुकूल किया जिससे पालकियों की तलाशी न ली जा सके और बादशाह के नाम पद्मावती का यह सन्देश भिजवा दिया कि वह पहले राजा से भेंट करेगी और उसके हाथ में ही चित्तौड़ के कोषागार की कुञ्जी सौंप कर बादशाह के महल में, यदि वह आज्ञा देगा तो प्रविष्ट होगी। राजाज्ञा हुई कि किले का द्वार खोल दिया जाय। चतुर्दोल विमान साथ की सभी पालकियों के सहित सुरक्षित बन्दीगृह के द्वार तक पहुँचा दिया गया। विमान से उतर कर पद्मावती वेषधारी लोहार ने बन्दी रत्नसेन की हथकड़ी, बेड़ी और शृङ्खलाओं को काट कर मुक्त कर दिया। सशस्त्र राजा एक घोड़े पर सवार हुआ जो पहिले से तैयार था। गोरा और बादल ने अपनी तलवारें खींच लीं और सभी सशस्त्र राजपूत सैनिक पालकियों से निकल-निकल कर घोड़ों पर जा बैठे।

वीर बादल ने अपने पिता गोरा को सैनिकों के सहित राजा रत्नसेन को ले जाने को कहा और स्वयं बादशाह की सेना का मोर्चा लेने को प्रस्तुत हुआ, किन्तु गोरा ने समझा-बुझा कर उसे आगे बढ़ने को विवश कर दिया। उधर बादल रत्नसेन को लेकर चित्तौड़गढ़ के निकट जा पहुँचा और इधर बादशाह अलाउद्दीन की सेना का वीरता पूर्वक सामना करता हुआ गोरा सरजा के हाथों वीर गति को प्राप्त हुआ। चित्तौड़ पहुँचते ही जब रत्नसेन ने पद्मावती के मुख से देवपाल की दुष्टता का वृत्तान्त सुना तो वह क्रुद्ध हो उठा। उसने प्रातःकाल होते ही देवपाल को बाँध लाने की प्रतिज्ञा की। रात भर उसे नींद नहीं आई और सबेरा होते ही उसने कुंभलनेर पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में देवपाल ने ऐसा साँगा चलाया कि रत्नसेन को नाभि से होता हुआ उसकी पीठ के पार निकल गया। देवपाल लौटना ही चाहता था किन्तु रत्नसेन ने उसे जा पकड़ा और उसका सिर काट कर हाथ-पैर बाँध दिए। इस प्रकार पद्मावती को दिया हुआ अपना वचन पूरा करने के अनन्तर चित्तौड़गढ़ की रक्षा का उत्तरदायित्व बादल पर सौंप रत्नसेन ने भी अपना प्राण त्याग दिया। दुःखित बादल मृत राजा का शव चित्तौड़ गढ़ ले आया। सोलहों शृङ्गार से सजी पद्मावती और नागमती रत्नसेन के शव के साथ सती हो गईं। इधर शाही सेना ने चित्तौड़ का गढ़ घेर लिया। बादशाह अलाउद्दीन ने जब पद्मावती

के सती हो जाने का सारा वृत्तान्त सुना तो हाथ मल कर रह गया। नवयुवक बादल दुर्ग के प्रमुख द्वार पर डटा रहा, घमासान युद्ध हुआ और चित्तौड़गढ़ के द्वार की रक्षा करता हुआ वह वीरगति को प्राप्त हुआ। राजपूत युद्ध में मारे गए और सभी क्षत्राणियों ने जौहर द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा की। बादशाह अलाउद्दीन जीत कर भी हार चुका था।

इस प्रकार जायसी कृत 'पद्मावत' की इस कथा-वस्तु का कथानक भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है एक तो पूर्वार्द्ध जिसमें प्रारंभ से लेकर रत्नसेन के चित्तौड़ पुनरावर्तन तक की कथा का समावेश हुआ है और जो कवि की कल्पना की शुद्ध उपज है, दूसरा उत्तरार्द्ध जिसमें कुम्भलनेर के राजा देवपाल द्वारा पद्मावती के पास दूती भेजने से लेकर अन्त तक की कथा का समावेश है और जिसका आंशिक आधार इतिहास की घटनाएँ एवं पात्र हैं। 'सुना साहि गढ़ छेंका आई' (पद्मावत छंद सं० २४/४) से इस बात का भी संकेत मिल जाता है कि कवि जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन कर रहा है वह उसने जो सुना उसे 'आदि अंत जसि कथा अहैं' (पद्मावत छंद सं० २४/५) का वर्णन 'लिखि भाषा चौपाई कहै' (पद्मावत छंद सं० २४/५) कर रहा है। इसी आख्यान की आधार-शिला पर वह 'हिन्दू-संस्कृति' की रक्षा करता है जिसकी ध्वनि हमें नागमती और पद्मावती के सती हो जाने के माध्यम से मिल जाती है। राजपूतों का शौर्य एवं उत्साह, आतिथ्य सत्कार, दुःख-कातर को मानापमान का परित्याग कर शरण देना, अपने वचनों की सम्पूर्ति में प्राणों की बाजी लगा देना, क्षत्राणियों का अनुकरणीय पातिव्रत आदि मूल्य, जिनके साक्ष्य इतिहास के पृष्ठों में भरे पड़े हैं—का सम्यक् उद्घाटन करना ही कवि का अभीष्ट था।

अलाउद्दीन द्वारा चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण (सन् १३०३ ई०), आक्रमण का कारण उसकी रूपवती पद्मिनी का अप्रतिम-सौन्दर्य, गुजरात के राजा कर्णदेव के अपमानित मंत्री माधवभट्ट द्वारा अलाउद्दीन को आक्रमण के लिए प्रेरित करना आदि अलाउद्दीन के शासन-काल की ऐतिहासिक घटनायें हैं, जबकि मेवाण के राणा रत्नसिंह और बूंदी के सूरजमल के पारिवारिक द्वेष की

घटना शेरशाह और कवि जायसी के समय की इतिहास सम्मत घटना है जो अलाउद्दीन के समय से जोड़ दी गई है। अलाउद्दीन के शासन-काल में मेवाड़ के राजा समर सिंह का पुत्र रत्नसिंह चित्तौड़ का राजा था और बूँदी के जिस सूरजमल के साथ रत्नसिंह का युद्ध हुआ था; वह महाराणा साँगा का पुत्र था और बाबर तथा जायसी का समकालीन। जायसी ने देवपाल में सूरज मल तथा राघव चेतन में माधव-भट्ट की आत्मा को प्रतिष्ठित किया है। हीरामन शुक की कल्पना भी बाणभट्ट कृत 'कादम्बरी' के वैशम्पायन की अनुकृति ही है। 'सिंहलद्वीप' बौद्ध जातकों के आधार पर वर्णित किया गया है जहाँ रूपवती यक्षिणियाँ अपने रूप सौन्दर्य से लोगों को अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर लिया करतीं थीं, यही 'पद्मावत' की पद्मिनी कोटि की स्त्रियाँ हैं और 'पद्मावती' का नाम भी 'कल्कि पुराण' में वर्णित कल्कि की पत्नी का ही नाम है। रत्न-सेन को समुद्र से प्राप्त पञ्च-पदार्थों की कल्पना भी जिसे आगे चलकर वह अलाउद्दीन के संधि-प्रस्ताव पर उसे समर्पित कर देता है, वस्तुतः रत्नसिंह के सौतेले भाई (महाराणा साँगा के पुत्र) विक्रमाजीत द्वारा बाबर को रत्न जटित मुकुट और कमर की पेटी देने की उस ऐतिहासिक घटना की ओर ही संकेत करती है जिसका उल्लेख प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ 'बाबर-नामा' में मिलता है। बाबर ने भी शमसाबाद की जागीर दी थी जिसकी छाया अलाउद्दीन द्वारा चन्देरी की जागीर देने में देखी जा सकती है। वस्तुतः लोक एवं इतिहास-ग्रन्थों में वर्णित तथ्यों का जो काव्यात्मक स्वरूप हमें 'पद्मावत' मे दिखाई पड़ता है, वह सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य के इतिहास में विलक्षण ही है। इसके साथ ही काव्य में कथा का सहज प्रवाह और कथानक की प्रबन्धात्मकता का यह सफल प्रयास कवि की प्रबन्ध-पटुता एव भाषा पर उनके सशक्त अधिकार का परिचय देता है।

'हौं सब कबिन्ह केर पछिलगा'

(पद्मावत छन्द सं० २३/३)

की विनम्र-घोषणा के साथ कवि अपनी इस प्रेमाख्यान-काव्य-रचना का समारम्भ करता है किन्तु 'पद्मावत' में जिस 'प्रेम' के स्वरूप का निर्वचन

किया गया है यदि वह अलौकिक नहीं तो लौकिक भी नहीं है। सृष्टि के कण-कण में कवि का सौन्दर्य निहित है जिसे एक विशिष्ट कोटि का है। सौन्दर्य की उपासना ही प्रेम है जो निजत्व की सीमा से परे होने पर ही उपलब्ध किया जा सकता है। सभी उसके अधिकारी भी नहीं हो सकते—

'भँवर आइ बनखंड हुति लेहिं कँवल कै बास।
दादुर बास न पावहिं भलेहिं जो आछहिं पास॥'

(पद्मावत छन्द सं०—२४/८-९)

पद्मावतकार के ही शब्दों में प्रेम-कमल की बास का अधिकारी सहृदय-भ्रमर ही है, जो न जाने कितने पुष्पों का परित्याग कर एक उसी के लिए कष्ट उठाता हुआ आता है, वह क्षणिक-सुख-लोभी दादुर नहीं जो भले ही उसके निकट रहता है। प्रेम की अनुभूति सभी प्रकार की सुखानुभूतियों से श्रेष्ठ एवं ग्राह्य है क्योंकि—

'तीनि लोक चौदह खंड सबै परै मोहि सूझि।
पेम छाँड़ि किछु औरु न लोना जौं देखौं मन बूझि॥'

(पद्मावत छन्द सं० ९६/८-९)

'पद्मावत' के नायक रत्नसेन का प्रेम भी इसी कोटि का है। जायसी का यह प्रेम भी विलक्षण ही है, सांसारिक कर्मकाण्डों से परे और भौतिक सुखों से दूर इस प्रेम का पंथ भी कंटकाकीर्ण है—

'पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा।
जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नयनन्हि आँसू।'

(पद्मावत छन्द सं०—१२७/२-३)

और प्रेम का यह मानसिक धरातल मरण से भी अधिक कष्टप्रद एवं शोचनीय होता है। उसकी पीड़ा भी उसी को समझ में आ सकती है, सभी को नहीं—

'पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई।

× × ×

कठिन मरन तें पेम बेवस्था। ना जिअ जिअन न दसईं अवस्था।'

(पद्मावत छन्द सं०—११६/२ तथा ७)

इसी कारण 'हीरामन शुक' के माध्यम से कवि स्पष्ट कह देता है कि—

'करत पिरीत कठिन है काजा।'

(पद्मावत छन्द सं०—१२३/१)

और 'प्रेम की पीर' का तो कहना ही क्या ? क्योंकि—

'मुहमद चिनगो अनंग की सुनि महि गँगन डेराइ।

धनि बिरही औ धनि हिया जेहि सब आगि समाइ॥'

(पद्मावत छन्द सं० २०५/८-६)

ऐसे प्रेम का पन्थ भी विचित्र ही है, सभी उसको प्राप्त भी नहीं कर सकते। यदि पथ-प्रदर्शक के रूप में 'सच्चा-गुरु' मिले तभी निस्तार हो सकता है अन्यथा पथ-भ्रष्ट होते भी देर नहीं। 'गुरु' के इस स्वरूप का निर्वचन करता हुआ शुक हीरामन कहता है कि—

'ततखन बोला सुआ सरेखा। अगुआ सोइ पंथ जेइँ देखा।

सो का उड़ै न जेहि तन पाँखू। लै सो परासहिं बूड़ै साखू।

जस अंधा अंन्धे कर संगी। पंथ न पाव होइ सहलंगी॥'

(पद्मावत छन्द स० १३८/१-३)

(सद्-गुरु) शुक ने राजा रत्नसेन के सौंदर्य (पद्मावती) का परिचय दिया। जायसी की यह सौंदर्य-कल्पना भी कितनी विराट् है—

'नैन जो देखे कँवल भए निरमर नीर सरीर।

हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर॥'

(पद्मावत छन्द सं०—६५/८-६)

सुनते ही राजा ने अपने राज-पाट का परित्याग कर उस पद्मावती की सिद्धि के लिए साधक का वेष धारण कर लिया और प्रेम की पीर से आपूरित हृदय राजा रत्नसेन—

'चला भुगुति माँगै कँह साजि किया तप जोग।
सिद्ध होउँ पदुमावति पाएँ हिरदै जेहि क बियोग॥'

(पद्मावत छन्द सं० १२६/८-६)

उसके नेत्र अब उसी दिशा में लग गए, जिस ओर सिंहलद्वीप था; जहाँ सौंदर्य की प्रतिमा पद्मावती थी—

'नैन लागु तेहि मारग पदुमावति जेहिं दीप।
जैस सेवाती सेवहिं बन चातक जल सीप॥'

(पद्मावत छन्द सं० १३६/८-६)

क्षार, क्षीर, दधि, उदधि, सुरा, किलकिला, और मानसर इन सप्तसमुद्रों के व्यवधान भी प्रेमी को उसकी प्रेम-साधना के पथ से विचलित न कर सके क्योंकि उसने प्रेम का रहस्य जान लिया था। उसके मन में पद्मावती थी, जिह्वा पर पद्मावती थी, अब वह सब ओर से विरक्त उसी को देखता था—

'सपत पतार खोजि जस काढ़े बेद गरन्थ।
सात सरग चढ़ि धावौं पदुमावति जेहि पन्थ॥'

(पद्मावत छन्द सं० १४६/८-६)

उधर 'पद्मावती' की भी वही स्थिति हो जाती है जो रत्नसेन की है—

'पदुमावति तेहि जोग संजोगा। परी पेम बस गहे बियोगा।'

(पद्मावत छन्द सं० १६८/१)

वह भी रत्नसेन के व्यक्तित्व में उसी विराट् सौंदर्य को देखती है, जिसका पूर्व-परिचय उसे शुक के माध्यम से हो चुका था। किन्तु मिलन की इस बेला में भी रत्नसेन 'प्रेम' के उस पद पर नहीं पहुँच सका था तभी तो—

'पदुमावति जस सुना बखानू । सहसउँ करा देख तस भानू ।
मेलेसि चन्दन मकु खिनु जागा । अधिकौ सून सिअर तन लागा ।
तब चंदन आखर हियँ लिखे । भीख लेइ तुइँ जोग न लिखे ।
बार आइ तब गा तैं सोई । कैसे भुगुत परापति होई ।'

(पद्मावत छन्द सं० १८५/१-४)

मूर्छा भंग होने पर प्रियतम के आकर वापस लौट जाने का ज्ञान होने पर रत्नसेन विक्षिप्त सा हो उठा । उसकी साधना निराशा में परिणत होती सी दृष्टिगत हुई, किन्तु यही तो प्रेम-साधना की वास्तविक कसौटी थी । वह पथ से विचलित न हुआ । प्रियतम के पास उसने अपनी विरह-वेदना की पत्रिका भेजी—

'नैनहिं नैन जो बेधिगै नहिं निकसहिं वै बान ।
हिएँ जो आखर तुम्ह लिखे ते सुठि घटहिं परान ।।'

(पद्मावती छन्द सं० २२४/८-९)

'निजत्व' को विनष्ट कर सत्यनिष्ठा इस प्रेम का मूल आधार है । इसी कारण रत्नसेन मूर्छित हुआ क्योंकि अभी उसमें यह क्षमता न आ सकी थी । पद्मावती ने उसकी इस अपूर्णता का आभास कराया—

'हौं रानी पदुमावति सात सरग पर बास ।
हाथ चढ़ौं सो तेहि कें प्रथम जो आपुहि नास ।

[पद्मावत छन्द सं० २३३/- ९]

रत्नसेन में पद्मावती के प्रेम में अपने इस 'निज' का नाश किया और पद्मावती ने रत्नसेन के लिए अपने 'निज' का । प्रेम पुष्ट होकर अपने दिव्य प्रकार से प्रतिभासित हो उठा । दैवीय गति विधियाँ भी सहायक हो उठीं और गंधर्वसेन को यह मानना ही पड़ा कि चाँद और सूर्य की जोड़ी तो आकाश पर ही सुशोभित होगी फलतः दोनों का विवाह सम्पन्न हुआ । यह विवाह भी लौकिक होते हुए भी अलौकिक है, क्योंकि—

'चाँद के हाथ दीन्ह जैमाला । चाँद आनि सूरुज गिय घाला ।
सूरुज लीन्हि चाँद पहिराई । हार नखत तरइन्ह सिउँ पाई ।'

[पद्मावत छंद सं० २८६/ २-३]

इस प्रकार मानव-प्रेम को ही कवि ने अलौकिक प्रकाश प्रदान करते हुए उसे इस नश्वर सृष्टि का अविनश्वर तत्व बना दिया जो काव्य में आद्यन्त अपनी विशिष्टता रखता है । देवता आदि भी इस प्रेम के समक्ष नत-मस्तक हो जाते हैं तभी तो रत्नसेन के शिव-मन्डप पहुँचते ही यह ध्वनि गूँज उठती है—

'मानुस पेम भएउ बैकुंठी । नाहि त काह छार एक मूँठी ।
पेमहि माहँ बिरह औ रसा । मैन के घर मधु अमृत बसा ।।

[पद्मावत छंद सं०-१६६/२-३]

प्रेम के नाम पर छुद्रता तो युवावस्था का एक आवेश मात्र है, जिससे कवि सतर्क कर देता है—

'जोबन चंचल ढीठ है करै निकाजहि काज ।
धनि कुलवंत जो कुल धरै करि जोबन महँ लाज ।।'

[पद्मावत छंद सं०-१७४/८-९]

सौन्दर्य को इसी सीमित परिवेश में रखकर उसकी कामना करने वाले अलाउद्दीन की जीत तो हुई, किन्तु उसकी उपलब्धि क्या हुई ? पद्मावती के शव की राख मात्र । वास्तव में प्रेम को जिस विस्तृत एवं गम्भीर परिवेश में रखकर जायसी ने यह प्रेम काव्य 'पद्मावत' लिखा वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में अनुपम एवं अद्वितीय है । कवि की दृष्टि बहुत सूक्ष्म एवं व्यापक रही है । संसार में सब कुछ सहज ही उपलब्ध हो सकता है, किन्तु 'प्रेम' इन दो दो वर्णों की अमूल्य अनुभूति सहज नहीं; उसके लिए तो साधना की आवश्यकता अपेक्षित है । यह 'प्रेम' लोक में ही है और सदैव रहेगा । इसके साथ ही

शाश्वत रहेगा यह प्रेम-काव्य कथा और उसका प्रणेता अमर कवि मलिक मुहम्मद जायसी—

> 'केइँ न जगत जस बेंचा केइं न लीन्ह जस मोल ।
> जो यह पढ़ै कहानी हम सँवरै दुइ बोल ॥'
>
> [पद्मावत छंद सं०- ६५२/८-९]

पद्मावत में प्रतिपादित दार्शनिक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में कबीर के रहस्यवाद की तुलनात्मक विवेचना कर लेना भी असंगत न होगा ।

रहस्यवाद हृदय की वह दिव्य अनुभूति है जिसके भावावेश में प्राणी अपने समीप और पार्थिव स्थिति से उस असीम और स्वर्गिक महा-अस्तित्व के साथ एकात्मकता का अनुभव करने लगता है अर्थात् आत्मा और परमात्मा का सीधा सम्बन्ध जब काव्यमयी भाषा में व्यक्त होता है तब उसे साहित्य में 'रहस्यवाद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । यह रहस्य कुछ और नहीं वास्तव में आध्यात्मिक साधना का 'अद्वैतवाद' का परिवर्तित रूप ही है । अव्यक्त एवं अमूर्त्त ब्रह्म को व्यक्त तथा मूर्त करने के निमित्त मानव हृदय व मस्तिष्क ने जो निरन्तर प्रयत्न किये हैं उसे ही 'रहस्यवाद' की परिभाषा के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है । इसका विश्लेषण करते हुए आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे दो कोटियों में विभक्त किया है—एक तो साधनात्मक रहस्यवाद और दूसरा भावनात्मक रहस्यवाद ।

प्रथम कोटि के रहस्यवाद के अन्तर्गत योग के अप्राकृतिक और जटिल आसन एवं प्राणायामों के कर्मकाण्ड, तपस्या एवं कायाकष्ट आदि आ जाते हैं । इसमें हठात् इन्द्रियों का दमन किया जाता है और इस प्रकार साधक मनसा अमूर्त तत्वों का आभास प्राप्त करता हुआ तथा अनेक अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त करता हुआ अभीष्ट तक पहुँचने का प्रयास करता है ।

किन्तु भावात्मक कोटि के रहस्यवाद का मूलाधार भक्ति अथवा सूफी प्रेम सिद्धान्त है । इस कोटि के साधक अथवा भक्त में आस्था एवं अगाध विश्वास

के साथ-साथ आत्म समर्पण की भावना भी बड़ी प्रबल रहती है। यह अद्वैत ब्रह्म की कल्पना से प्रभावित एवं मूलतः उसी पर आधारित रहस्यवाद होता है।

भारतीय साहित्य में हमें रहस्यवाद का एक क्रमिक विकास प्राप्त होता है औपनिषदिक काल से चले आ रहे दार्शनिक सिद्धान्त का स्पष्टीकरण गीता में प्रतिपादित 'सर्वात्मवाद दर्शन' में देखा जा सकता है। उस रूप में वह शुद्ध अद्वैतवाद का ही एक रूप है। भागवत में आकर इसी रहस्य-भावना को कृष्ण भक्ति का सम्बल प्राप्त हुआ। कालान्तर में कृष्ण का लोक संग्रही रूप भक्तों की दृष्टि में क्षीण होते-होते नगण्य सा हो गया और उसका स्थान उनके प्रेमी ने ले लिया। कृष्ण अब प्रेम की साकार प्रतिमा बन बैठे और भक्तों ने उनमें लौकिक प्रेम-भाव का उद्घाटन करना प्रारम्भ कर दिया। सूफियों के भारत प्रवेश के साथ ही पुनः बदलाव आया। भारतीय भक्त कवियों पर सूफी विचार धारा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा; जिसका एक रूप हमें मीराबाई तथा चैतन्य महाप्रभु के व्यक्तित्व एवं कृतियों में स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। कीर्तन-भजन करते हुए मूर्छित हो जाना और तन्मयता की एक विशिष्ट मनःस्थिति सूफियों की ही देन है। कबीर, दादू आदि निर्गुण भक्तों की ज्ञानमार्गी प्रवृत्ति तो भारतीय वेदान्त पर आधारित हैं, किन्तु उसमें प्रेम तत्व का समावेश सूफियों जैसा ही है यथा—

'लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥

(कबीर)

कबीर एवं जायसी के रहस्यवाद को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। डा० श्याम सुन्दर दास की दृष्टि में ''रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद तो केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों (जायसी आदि) का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह

थिगली-सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"

[कबीर ग्रन्थावली की भूमिका पृष्ठ ७५]

डा० श्यामसुन्दर दास के मत से सर्वथा भिन्न आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है जो इस प्रकार है—

"कबीरदास में जो रहस्यवाद पाया जाता है वह अधिकतर सूफियों के प्रभाव के कारण। पर कबीरदास पर इस्लाम के कट्टर एकेश्वरवाद और वेदान्त के मायावाद का रूखा संस्कार भी पूरा-पूरा था। × ×

× अतः कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत उच्च कोटि की है। वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत् के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों को 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृङ्गार, उत्कण्ठा या विरह विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।"

[जायसी ग्रंथावली, भूमिका पृ० सं०—१५४]

उपर्युक्त दोनों ही विद्वानों के दृष्टिकोण एक पक्षीय ही हैं। वास्तव में दोनों ही कवियों ने साधनात्मक रहस्यवाद को स्वीकार किया है जिसमें योग, साधना, तंत्र, मंत्र आदि आते हैं। अन्तर जो कुछ है भी तो नहीं कि कबीर यदि प्रकृति को असत् मानते हैं तो जायसी सत्।

'नैन जो देखे कँवल भए निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हंस भए दसन जोति नग हीर॥

[पद्मावत छंद सं०— ६५/८-९]

जायसी की दृष्टि में तो प्रकृति ही परमात्मा का दर्पण है। कबीर आत्मा और परमात्मा के बीच किसी तीसरी सत्ता या उपकरण को 'माया' की संज्ञा

देते हैं जब कि जायसी के लिए तो प्रकृति परम-तत्व का उज्ज्वलतम प्रकाश है। कबीर का रहस्यवाद प्रेम पर ज्ञान की प्रतिष्ठा है जब कि जायसी का रहस्य-वाद ज्ञान पर प्रेम की विजय का ही पर्याय है; तथापि अनुभूति की, तीव्रता, रहस्य प्रति आग्रह, ब्रह्म का परिचय एवं उसकी अभिव्यक्ति, विरहानुभूति आदि को लेकर दोनों ही कवियों में पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है।

'हाड़ भए झुरि किंगरी नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै कहेसु बिथा एहि भाँति ।।'

[पद्मावत छं० सं०—३६१/८-६]

'सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै साईं कै चित्त ।।'

[कबीर ग्रंथावली]

'यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहँ पाउ ।।'

[पद्मावत छंद सं०—३५२/८-६]

'यह तन जारौं मसि करौं, ज्यौं धूआँ जाइ सरग्ग।
मति वे राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि ।।'

[कबीर ग्रंथावली]

कबीर एवं जायसी दोनों के रहस्यवाद में यदि अन्तर है तो भावनात्मक। एक शंकराचार्य के मायावाद का अनुयायी है तो दूसरा सूफी विचारधारा का। कबीर के विचार में तो जीवात्मा एवं परमात्मा एक ही हैं दोनों में पार्थक्य 'माया' करती है जिसका सहायक अज्ञान है। यह माया सामान्य ठगिनी नहीं अपितु 'महा ठगिनी' है। यही जीवात्मा को सांसारिक प्रपञ्चों में फँसाए रखती है और वह ब्रह्म से दूर होता जाता है—

'इक डाइनि मोरे हिय बसी। निसिदिन मोरे हिय को डसी।
या डाइनि के लड़का पाँच। निसि दिन मोंहि नचावहि नाच ।।'

देते हैं जब कि जायसी के लिए तो प्रकृति परम-तत्व का उज्ज्वलतम प्रकाश है। कबीर का रहस्यवाद प्रेम पर ज्ञान को प्रतिष्ठा है जब कि जायसी का रहस्य-वाद ज्ञान पर प्रेम की विजय का ही पर्याय है; तथापि अनुभूति को, तीव्रता, रहस्य प्रति आग्रह, ब्रह्म का परिचय एवं उसकी अभिव्यक्ति, विरहानुभूति आदि को लेकर दोनों ही कवियों में पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है।

'हाड़ भए झुरि किंगरी नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै कहेसु बिथा एहि भाँति ।।'

[पद्मावत छं० सं०—३६१/८-६]

'सब रग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै, कै साईं कै चित्त ।।'

[कबीर ग्रंथावली]

'यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहँ पाउ ।।'

[पद्मावत छंद सं०—३५२/८-६]

'यह तन जारौं मसि करौं, ज्यौं धूआँ जाइ सरग्ग।
मति वे राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि ।।'

[कबीर ग्रंथावली]

कबीर एवं जायसी दोनों के रहस्यवाद में यदि अन्तर है तो भावनात्मक। एक शंकराचार्य के मायावाद का अनुयायी है तो दूसरा सूफी विचारधारा का। कबीर के विचार में तो जीवात्मा एवं परमात्मा एक ही हैं दोनों में पार्थक्य 'माया' करती है जिसका सहायक अज्ञान है। यह माया सामान्य ठगिनी नहीं अपितु 'महा ठगिनी' है। यही जीवात्मा को सांसारिक प्रपञ्चों में फँसाए रखती है और वह ब्रह्म से दूर होता जाता है—

'इक डाइनि मोरे हिय बसी। निसिदिन मोरे हिय को डसी।
या डाइनि के लड़का पाँच। निसि दिन मोंहि नचावहि नाच ।।'

माया-डाकिनी के इन पञ्च-पुत्रों से कबीर का आशय काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह इन पाँच अज्ञानता के प्रेरक तत्वों से हैं। वस्तुतः माया के कारण जीवात्मा का परमात्मा रूप प्रियतम से वियोग होता है; जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। माया को दूर करने का एकमात्र समाधान कबीर 'ज्ञान' को देते हैं।

किन्तु जायसी सूफी कवि हैं। सूफी मत के अनुसार भी यद्यपि 'बन्दे' और 'खुदा' में एकीकरण हो सकता है, किन्तु वहाँ माया जैसी कोई वस्तु नहीं। सूफी मत में आत्मा परमात्मा से मिलने के लिए तड़पती रहती है साधना की अवस्था में उसे इन चार अवस्थाओं को पार करना पड़ता है और तभी मिलन होता है—

(१) शरीयत।

(२) तरीकत।

(३) हकीकत।

(४) मारिफत।

जायसी ने 'चारि बसेरे जो चढ़ै, सत सौं उतरै पार' कह कर साधना की इन्हीं चार अवस्थाओं का संकेत किया है। धरती और गगन, जीव और ईश्वर सब एक थे, न जाने किसने इनमें भेद उत्पन्न कर दिया तथापि प्रकृति उसी प्रियतम का ही प्रकाश है, दिव्य ज्योति है, उसी का एक रूप है जिसका परिचय साधक को 'मानसरोवर' के जल में प्रति भाषित पद्मावती के सौन्दर्य दर्शन से प्राप्त हो जाता है।

कबीर के रहस्यवाद में ब्रह्म पिण्ड में ही स्थित रहने वाला है; बाह्य जगत् में ढूँढ़ना अज्ञानता का लक्षण है—

'कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूँढ़ै बन माँहि।
ऐसे घटि-घटि राम हैं, दुनियाँ देखै नाँहि॥'

[कबीर ग्रंथावली]

किन्तु जायसी का रहस्यवाद वाह्य जगत् में ही परमात्मा को देखता है, ढूँढ़ता है और उसी में उसको प्राप्त भी करता है। कबीर यदि अटपटी भाषा में अटपटा रहस्यवाद लेकर चले हैं तो जायसी लोक-भाषा में सौन्दर्यमय रहस्यवाद को। दोनों ही रहस्यवादी कवियों ने गुरु के महत्व को स्वीकार किया है। डा० त्रिगुणायत ने इन दोनों को ही हिन्दी साहित्य के पूर्व-मध्य-काल का श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि माना है। एक में यदि भारतीय वेदान्त अद्वैत-दर्शन, नाथ-सम्प्रदाय एवं सिद्धों का चमत्कार पूर्ण मिश्रण है तो दूसरे में प्रेम एवं सौन्दर्य के प्रति अटूट आस्था एवं विश्वास। लक्ष्य दोनों के एक ही हैं 'रहस्य का साक्षात्कार' कबीर यदि ज्ञान को प्राथमिकता देते हैं तो जायसी प्रेम को।

प्रेम-कथा को ही जायसी ने अपना आधार बनाया और 'पद्मावत' के रूप में हिन्दी साहित्य को प्रबन्ध की दृष्टि से एक सफल महाकाव्य प्रदान किया। कथानक के संदर्भ में तो ऊपर पहले ही विचार किया जा चुका है, कथोपकथन अथवा संवाद-योजना की दृष्टि से भी यह एक सफल कृति है। 'पद्मावत' में आए हुए संवादों की एक संक्षिप्त तालिका इस प्रकार है—

(१) पद्मावती-सुआ संवाद।
(२) नागमती-सुआ संवाद।
(३ रत्नसेन-महेश संवाद।
(४) भाँट रूप महेश-गंधर्वसेन संवाद।
(५) नागमती-रत्नसेन संवाद।
(६) नागमती पद्मावती संवाद।
(७) रत्नसेन-दूत (अलाउद्दीन) संवाद ;
(८) राघव चेतन-अलाउद्दीन संवाद।
(९) पद्मावती-गोरा-बादल संवाद।
(१०) पद्मावती-देवपाल दूती संवाद। आदि

'पद्मावत' के संवाद कथा के प्रति पाठक की उत्सुकता एवं जिज्ञासा की मनोवृत्ति को बनाए रखते हुए उसके सहज प्रवाह का निर्वाह तो करते ही हैं, साथ ही महाकाव्य में आए हुए पात्रों के चरित्र पर भी पूरा-पूरा प्रकाश डालते हैं। 'पद्मावत' में जायसी ने अनेकानेक प्रकार के चरित्रों की अवतारणा की है जिन्हें सद् और असद् इन दो वर्गों में रखने के अन्तर लौकिक एवं अलौकिक इन दो उपवर्गों के बाद भी स्त्री एवं पुरुष इन दो अवान्तर भेदों में वर्गीकृत किया जा सकता है। लौकिक सद् कोटि के स्त्री पात्रों में पद्मावती (नायिका), नागमती, इन दोनों की सखी-सहेलियाँ, चम्पावती (पद्मावती की माता), सरस्वती (रत्नसेन की माता), बादल की नवागता वधू आदि उल्लेखनीय हैं। अलौकिक सद् कोटि के स्त्री पात्रों में पार्वती एवं लक्ष्मी (समुद्र की पुत्री) का नाम लिया जा सकता है। लौकिक असद् कोटि के स्त्री पात्रों में कुंभलनेर के राजा देवपाल तथा अलाउद्दीन के द्वारा पद्मावती के पास भेजी गई दूतियाँ आती हैं। अलौकिक असद् कोटि की कोई भी स्त्री पात्र नहीं है। इसी प्रकार लौकिक सद् कोटि के पुरुष पात्रों के अन्तर्गत रत्नसेन (नायक), गंधर्वसेन (पद्मावती के पिता) और उनका मंत्री, गजपति, गोरा और बादल, रत्नसेन के साथी आदि आते हैं। अलौकिक सद् कोटि के पुरुष-पात्रों में महेश और समुद्र का नाम उल्लेखनीय है। लौकिक असद् कोटि के पुरुष पात्रों में बादशाह अलाउद्दीन (खलनायक), राघवचेतन, देवपाल (कुंभलनेर का राजा) आदि आते हैं। अलौकिक असद् कोटि के पुरुष पात्रों के रूप में राक्षस (बोहित खण्ड में वर्णित जिसे कवि ने विभीषण का केवट कहा है) का नाम रखा जा सकता है; इन पात्रों के अतिरिक्त पक्षि-योनि के तीन पात्र और भी हैं जिनमें एक तो हीरामन शुक दूसरा वह पक्षी जिसे जायसी ने 'विहंगम शब्द से ही वर्णित किया है और जो नागमती का संदेश सिंहलद्वीप में स्थित' रत्नसेन के पास तक लाता है और तीसरा राज-पक्षी जिसने पद्मावती और रत्नसेन को राक्षस के चंगुल से छुटकारा दिलाया था, आते हैं। पक्षि-योनि के ये तीनों ही चरित्र सद् कोटि में रखे जाएँगे।

'पद्मावत' के उपर्युक्त सभी चरित्रों के प्रति कवि पूर्ण सजग रहा है।

किन्तु प्रमुख पात्रों के रूप में रत्नसेन, पद्मावती, नागमती, हीरामन सुग्रा, अलाउद्दीन तथा गौड़ रूप में गोरा बादल राघव चेतन, और देवपाल आदि चरित्रों पर कवि का ध्यान अधिक रहा है, जो कथा-प्रवाह और प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से आवश्यक भी था। इस सद् कोटि के चरित्रों में भारतीयता, दृढ़ संकल्प, संस्कृति के प्रति आस्था एवं विश्वास, जातीय गौरव, अन्याय एवं दमन के प्रति विद्रोह, जीवन के प्रति प्रेम, उत्साह एवं विषम परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता, जातीय गौरव आदि सभी गुणों को प्रतिष्ठित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। असद् कोटि के चरित्रों के प्रति पाठक के मन में घृणा का भाव आ जाना ही कवि के चरित्र-चित्रण की सफलता मानी जाएगी।

'पद्मावत' के महाकाव्यत्व पर विचार करने के पूर्व महाकाव्य के लक्षणों को जान लेना भी अत्यावश्यक है। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ का मत है कि—

(१) महाकाव्य सर्ग-बद्ध होना चाहिए। सर्ग न तो बहुत छोटे और न ही बहुत बड़े हों और उनकी संख्या भी कम से कम आठ से तो अधिक ही होनी चाहिए। सर्ग की समाप्ति पर आने वाले सर्ग की कथा का सूक्ष्म संकेत भी अपेक्षित है।

(२) महाकाव्य का प्रारम्भ मंगलाचरण आशीर्वचन अथवा कथा-वस्तु निर्देश युक्त होना चाहिए।

(३) छन्द की दृष्टि से महाकाव्य का प्रत्येक सर्ग एक ही वृत्त में होना चाहिए किन्तु सर्गान्त में उससे भिन्न कोई दूसरा वृत्त आ जाना चाहिए।

(४) कथा-वस्तु की दृष्टि से महाकाव्य का कथानक लोक में प्रचलित अथवा इतिहास-सम्मत होना चाहिए। कथानक का विकास भी नाटक की पाँचों संधियों के आधार पर होना चाहिए।

(५) महाकाव्य का नायक कोई देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त कुलीन क्षत्रिय होना चाहिए।

(६) महाकाव्य में शृंगार, वीर एवं शान्त इन तीन रसों में से कोई एक अङ्गी (प्रधान) रूप में तथा शेष सभी अङ्ग (गौड़) रूप में अवश्य प्रयुक्त होने चाहिए।

(७) महाकाव्य का अन्तिम लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों में से ही कोई एक होना चाहिए।

(८) महाकाव्य में विविध वर्णनीय विषयों एवं प्रसङ्गों जैसे संध्या, सूर्य, इन्दु, रजनी, प्रदोष-काल, रात्रि, दिवस, प्रातः, ऋतु, वन, पर्वत, समुद्र, यात्रा युद्ध, विवाह मंत्रादि का यथा-सम्भव साङ्गोपाङ्ग वर्णन होना चाहिए।

(९) महाकाव्य में प्रसङ्गानुकूल कहीं खलों की निन्दा और कहीं सज्जनों का गुणानुवादन भी होना चाहिए।

(१०) महाकाव्य का नामकरण भी कथावस्तु, नायक अथवा उससे भिन्न किन्तु विशिष्ट किसी महत्वपूर्ण आधार पर किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त लक्षणों की कसौटी पर 'पद्मावत' को परखने पर वह एक सफल महाकाव्य सिद्ध होता है क्योंकि—

(१) फारसी की मसनवी (इतिवृत्तात्मक) शैली पर आधारित 'पद्मावत' सर्गबद्ध है; सर्गों के स्थान पर इसमें खण्डों के रूप में कुल मिलाकर ५७ खण्ड उपलब्ध होते हैं। यह बात अवश्य है कि कुछ एक खण्ड अत्यन्त छोटे हैं किन्तु ऐसे खण्डों की संख्या भी अधिक नहीं, कम ही है। प्रत्येक खण्ड के अन्त में आगे आने वाले खण्ड का कथा-सूत्र भी मिल जाता है।

(२) इसका प्रारम्भ भी मंगलाचरण से ही होता है और कथावस्तु की एक संक्षिप्त रूप-रेखा भी कवि ने प्रस्तुत कर दिया है।

(३) छन्द की दृष्टि से इसमें चौपाई एवं दोहा छन्दों का ही प्रयोग किया गया है तथापि इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता।

(४) इसका कथानक भी इतिहास-सम्मत तो है ही, साथ ही सुजन समाज में प्रचलित भी।

(५) इसका नायक चित्रसेन पुत्र राजा रत्नसेन है जो धीरोदात्त गुणों से युक्त क्षत्रिय पात्र है।

(६) रस-निरूपण की दृष्टि से भी पद्मावत एक सफल महाकाव्य है क्योंकि इसमें शृङ्गार-रस प्रधान रस के रूप में प्रयुक्त हुआ है और वीर, रौद्र, शान्त वीभत्स, करुण, भयानक, आश्चर्य एवं हास्य आदि शेष सभी रसों का गौड़ रूप में यथा सम्भव प्रयोग हुआ है।

(७) अन्तिम लक्ष्य के रूप में धर्म अथवा मोक्ष में से किसी एक को स्वीकार किया जा सकता है।

(८) जायसी ने विविध वर्णनीय प्रसङ्गों का यथावसर साङ्गोपांग एवं उसकी चरम-सीमा तक वर्णन किया है यथा सिंहलद्वीप-हाट वर्णन, स्त्री-भेद वर्णन, भोज के समय खाद्य-पदार्थों का वर्णन, मुद्रालङ्कारों के माध्यम से फलों, सब्जियों एवं पशु-पक्षियों तक का वर्णन संयोग शृङ्गार रस के अन्तर्गत षट्ऋतु वर्णन, वियोग शृङ्गार-रस के अन्तर्गत बारहमासा-वर्णन, रत्नसेन एवं पद्मावती का विवाह संस्कार वर्णन, उसी प्रसंग में मंत्रों का प्रयोग एवं मंगलाचार गीत समुद्र-यात्रा आदि।

(९) पद्मावत में आद्यन्त प्रसंगानुसार खलों की निन्दा एवं सज्जनों की प्रशंसा अथवा गुणानुवादन भी मिलता है।

(१०) नायक रत्नसेन का अन्तिम लक्ष्य जब पद्मावती है तो ग्रन्थ की नायिका के नाम से इसका नामकरण 'पद्मावत' भी सार्थक ही है क्योंकि सारी घटनाएँ पद्मावती को ही केन्द्र में रखकर आगे बढ़ती है।

इस प्रकार महाकाव्य के सभी लक्षणों की सिद्धि होने के कारण 'पद्मावत' का महाकाव्यत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

'पद्मावत' की भाषा के सन्दर्भ में बताया ही जा चुका है कि यह सामान्य बोलचाल की अवधी में प्रणीत प्रबन्ध काव्य है जिसमें सौन्दर्य के विराट् स्वरूप की झाँकी है। सौन्दर्य का यह स्वरूप कवि ने जड़ एवं चेतन दोनों में ही

प्रतिष्ठित किया है। विचारों की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति के निमित्त उसने अलंकारों का भी पर्याप्त प्रयोग किया है जिनमें उत्प्रेक्षा, रुपक, दृष्टान्त, मुद्रा, श्लेष, यमक, प्रतीप, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति एवं अनुप्रास आदि प्रमुख हैं। अलंकारों का प्रयोग भी कवि ने अन्ततोगत्वा रस की निष्पत्ति के साधन रूप में ही स्वीकार किया है न कि साध्य रूप में। काव्य का प्रधान रस शृंगार है। जायसी ने शृङ्गार-रस के दोनों ही पक्षों (संयोग एवं विप्रलम्भ शृङ्गार रस) का ऐसा हृदयग्राही एवं मनौवैज्ञानिक चित्रण प्रस्तुत किया है जो हिन्दी साहित्य के इतिहसि में विलक्षण ही है। संयोग की स्थिति में में यदि प्रकृति सुखद हो जाती है तो वही वियोग की स्थिति में दुःखद। प्रकृति का चित्रण भी इसी कारण रस की निष्पत्ति के साधन रूप में ही हुआ है।

'पदमावत' का शृङ्गार-वर्णन, उसमें भी विरह-चित्रण और उसके अन्तर्गत नागमती का विरह-वर्णन अपनी विशिष्टता एवं मौलिकता के साथ ही सहृदय पाठक को अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर लेता है। कवि ने संयोग शृङ्गार रस के अन्तर्गत यदि एक ओर षट्ऋतु वर्णन का प्रसङ्ग रखा है तो विप्रलम्भ शृंगार रस के अन्तर्गत 'बारहमासा' प्रकरण का अत्यन्त मनोहारी स्वरूप प्रस्तुत किया है। प्रेम के साथ-साथ प्रकृति का चित्रण भी उसकी दृष्टि में अपेक्षित था। इसी प्रसङ्ग में इस बात का भी संकेत कर देना असंगत न होगा कि काव्य में यद्यपि कवि ने लोक प्रचलित मान्यताओं विश्वासों, पर्वों एवं गीतों आदि का उल्लेख मात्र ही किया है तथापि इनसे उस समय के लोक-जीवन एवं उसकी सांस्कृतिक विचार-धारा पर भी कम प्रकाश नहीं पड़ता। लोक भाषा में लिखा गया 'पद्मावत' लोक प्रचलित प्रेम कथा पर आधारित ऐसा महाकाव्य है जिसमें प्रेम की दिव्यता एवं अमरता का संदेह गूँज रहा है। जब तक 'प्रेम' रहेगा तब तक 'पदमावती और रत्नसेन के साथ-साथ 'पदमावत' का नाम अमर रहेगा और 'पद्मावत' के साथ-साथ अमर रहेगा उसके प्रणेता सूफी संत कवि मलिक मोहम्मद जायसी का नाम।

———